हिन्दी की हास्य-व्यंग्य विधा का स्वरूप और विकास

डॉ० इन्द्रनाथ मदान

हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

हिन्दी की हास्य-व्यंग विधा

का

स्वरूप और विकास

⊙

हिन्दी की हास्य-व्यंग्य विधा
का
स्वरूप और विकास

डॉ० इन्द्रनाथ मदान

शक १९०० : सन् १९७८
हिन्दी साहित्य सम्मेलन • प्रयाग

प्रकाशक
जगदीश स्वरूप
हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

मूल्य : आठ रुपए
प्रतियाँ : ५००
प्रकाशन तिथि : १९७८

मुद्रक
सम्मेलन मुद्रणालय
प्रयाग

प्रकाशकीय

⊙⊙

हिन्दी साहित्य सम्मेलन ने सम्मेलन के पूर्व सभापति हास्यरसावतार स्वर्गीय पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी की जन्मशती के उपलक्ष्य में 'हिन्दी की हास्य-व्यंग्य विधा का स्वरूप और विकास' विषय पर आलेख-पाठ के निमित्त चण्डीगढ़ विश्वविद्यालय के पूर्व अध्यक्ष एवं लब्धप्रतिष्ठ आलोचक डॉ० इन्द्रनाथ मदान जी से अनुरोध किया था। डॉ० मदान जी ने अनुग्रहपूर्वक कठोर श्रम एवं अध्यवसाय से जो आलेख संगोष्ठी के निमित्त भेजा है, उसे इस रूप में प्रकाशित करते हुए हिन्दी साहित्य सम्मेलन गौरव का अनुभव करता है।

विश्वास है, हिन्दी की हास्य-व्यंग्य विधा का यह विवेचन हास्यरसावतार स्वर्गीय पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी जी की जन्मशती के उपलक्ष्य में सम्मेलन का एक सार्थक प्रयास माना जाएगा।

स्वर्गीय चतुर्वेदी जी के व्यक्तित्त्व का परिचय प्रस्तुत करने की दृष्टि से भारत के पूर्व राष्ट्रपति स्वर्गीय बाबू राजेन्द्रप्रसाद जी तथा हिन्दी के प्रख्यात लेखक स्वर्गीय बाबू शिवपूजन सहाय जी का लेख एवं चतुर्वेदी जी का चित्र भी उपयोगिता की दृष्टि से इस पुस्तक में संकलित किया गया है। आशा है, सुधी पाठक सम्मेलन के इस प्रकाशन का स्वागत करेंगे।

जगदीश स्वरूप
आदाता

विषयानुक्रम

स्वर्गीय पण्डित जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी

स्वर्गीय चतुर्वेदी जी

स्वर्गीय देशरत्न डॉ० राजेन्द्रप्रसाद

पूर्व राष्ट्रपति

स्वर्गीय पं० जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदीजी से मेरी पहली मुलाकात उस वक्त हुई जब मैं कलकत्ते के प्रेसिडेन्सी कालेज में पढ़ता था। उसके बाद जब वहाँ हिन्दी साहित्य परिषद् की स्थापना हुई और सम्मेलन का अधिवेशन १९११ के दिसम्बर में हुआ तब से घनिष्ठता बढ़ती गयी और मुलाकात का रूप मित्रता का हो गया, जो सौभाग्यवश उनके अन्तिम दिनों तक बनी रही। चतुर्वेदीजी ने हिन्दी साहित्य की जो सेवा की है उसके सम्बन्ध में इतना ही कहना काफी है कि उन सेवाओं को साहित्यिक जगत् ने आज से बहुत दिन पहले ही आदर की दृष्टि से देखा और सम्मेलन के सभापति का उच्च पद समर्पित किया। साहित्य के अंग-प्रत्यंगों में हास्य-रस का भी ऊँचा स्थान है और वह साहित्य पूरा नहीं जिसमें इसका समावेश न हो। हिन्दी साहित्य में चतुर्वेदीजी मानो हास्य-रस के अवतार ही थे और जब किसी सभा में वे उपस्थित हो जाते तो सारी सभा उनके पहुँचते ही खिलखिला उठती और जब वे कुछ कहने लगते तो उनकी वाक्पटुता और मजाकों से लोट-पोट करने लगती। इस हास्य-रस के भीतर गम्भीर तत्त्व भी रहा करता था और सच्चा हास्य-रस वही हो सकता है जिसमें मजाक के भीतर गम्भीर तत्त्व भरा रहे। चतुर्वेदीजी के लेखों का संग्रह हिन्दी साहित्य में बड़ा स्थान पायेगा। पर चतुर्वेदीजी केवल हास्य-रस के ही आचार्य नहीं थे। उनकी कविता भी सुन्दर, सोहावनी और शिक्षाप्रद होती थी। मैं आशा करता हूँ कि उनके सुपुत्रों का प्रयत्न उनकी कृतियों को सुरक्षित और साहित्य-प्रेमियों के लिए सुलभ बनाने में सफल होगा।

१२-१०-४०

●

हास्यरसावतार पंडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी

स्वर्गीय आचार्य शिवपूजन सहाय

मलयपुर (मुङ्गेर) के निवासी पं० जगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी हिन्दी-संसार के उन साहित्य-महारथियों में थे, जिन्होंने हिन्दी के विकास युग में हिन्दी के हित की ही बात सोची थी और उसकी उन्नति के उपाय करते रहने में ही अपना सारा जीवन खपाया था।

अपने युग में चतुर्वेदीजी हिन्दी-भाषा के मर्मज्ञ विद्वान् माने जाते रहे। भाषाविषयक उनकी विशेषज्ञता ने उस समय के कितने ही धुरन्धर लेखकों को परेशानी में डालकर उनका लोहा मानने के लिए बाध्य किया था। उन दिनों के भाषा-सम्बन्धी विवादों में वे बड़ी निर्भीकता से अपने पक्ष पर दृढ़ रहते थे। शुद्धाशुद्ध भाषा की बारीकियाँ परखने में उनकी दृष्टि पैनी थी। इसी परख में उनके जीवन का प्रत्येक क्षण व्यतीत होता था। चाहे वे बाजार में रहें या ट्रेन में सफर करते हों, हर घड़ी, उठते-बैठते, चलते-फिरते, बोलते-बतलाते, वे व्याकरण-समर्थित शुद्ध भाषा पर ध्यान रखने में सजग रहते थे। बातचीत के प्रसंग में भी उनके सामने कोई अशुद्ध भाषा बोलता था तो वे सुपरिचित व्यक्ति को तुरन्त टोककर सावधान कर देते थे, पर दूसरों को किसी व्याज से ही शुद्ध रूप ज्ञात करा देते थे। पुस्तकें और पत्र-पत्रिकाएँ पढ़ते समय दुष्प्रयोगों पर निशान करते चलते थे। नाटक देखते समय अभिनेताओं के कथोपकथन पर ही उनका विशेष ध्यान रहता था। सभा-सम्मेलनों के भाषणों में भी उनके कान चौकन्ने रहते थे।

कलकत्ता स्थित उनके निजी मकान (सीताराम घोष स्ट्रीट) में महामहोपाध्याय पं० सकलनारायण शर्मा भी साथ रहते थे। वे कलकत्ता विश्वविद्यालय में संस्कृत के व्याख्याता और प्रसिद्ध वैयाकरण थे। दोनों विद्वान् जब साथ मिल बैठते तब प्रायः भाषा और साहित्य के विषय में ही वार्तालाप करते थे। यह नित्य का प्रसंग था। दोनों की मैत्री आदर्श थी। दोनों ही बड़ी सूक्ष्मदर्शिता से भाषा के प्रचलित रूप का परिष्कार किया करते थे। 'मतवाला-मण्डल' में रहते समय मैं प्रायः उन लोगों के दर्शनार्थ जाता था। अतः उन लोगों की दृष्टि की गहरी पैठ के एकाध उदाहरण भी नीचे दे रहा हूँ।

एक अखबार में छपा वाक्य था—"यह समाचार समाचारपत्रों में प्रकाशित हुआ था।" उन लोगों का संशोधन इस प्रकार था—"समाचारपत्रों में यह समाचार प्रकाशित हुआ था।" व्याकरणविषयक अशुद्धियों पर तो वे ध्यान देते ही थे, वाक्यों के भ्रमात्मक रूप पर भी निगाह रखते थे। उन लोगों के बिचार से "हिचकिचाहट" शब्द के बदले "हिचक" लिखना ही उपयुक्त है। शब्दों और वाक्यों के ऐसे अनेक उदाहरणों को यहाँ लिखकर उस मित्रगोष्ठी की साहित्य-चर्चा का विस्तृत विवरण देने के लिए स्थान नहीं है, पर समझदार के लिए उप-र्युक्त संकेत पर्याप्त है।

चतुर्वेदीजी अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति हुए थे। सम्भवतः वह बारहवाँ अधिवेशन था और लाहौर में हुआ था। उन्होंने अपने भाषण में भी भाषा की प्रचलित अशुद्धियों पर हिन्दी-संसार का ध्यान आकृष्ट किया था। जैसे—"संपादक, सरस्वती" लिखना अशुद्ध और "सरस्वती-सम्पादक" लिखना ही शुद्ध बताया था। और भी कितने ही उदाहरण उस भाषण में द्रष्टव्य हैं।

उस समय मैं आरा में रहता था। जिस गाड़ी से वे लाहौर जा रहे थे, आधी रात में वह आरा स्टेशन पर पहुँची। आरा की नागरी-प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय-प्रबन्धक श्री शुकदेव सिंह और मैंने पुष्पमालाएँ पहनायीं। उन्होंने हँसते हुए कहा, "तुम लोग जाड़े की रात में आये हो और इसी कड़ी सर्दी में घर भी लौटोगे, इसलिए जाड़े की सौगात लेते जाओ।" यह कहकर उन्होंने मुश्क-अम्बर (कस्तूरी का इत्र) के दो फाहे दिये और अपने भाषण की दो छपी प्रतियाँ भी दीं। हिन्दी-प्रेमियों और हिन्दी-हितैषियों से वे प्रायः यही पूछा करते थे। "हिन्दी में चिट्ठी और चिट्ठी का पता लिखते हो? किस हिन्दी-पत्रिका के ग्राहक हो? कौन हिन्दी-पत्र खरीदकर पढ़ते हो? सालभर में कितने रुपयों की हिन्दी-पुस्तकें खरीदते हो? अब तक कौन-कौन-सी पुस्तकें पढ़ चुके हो?" सचमुच हिन्दी पर उनकी अथाह ममता थी।

उनके प्रथम दर्शन का सौभाग्य मुझे लखनऊ में प्राप्त हुआ था। वहाँ अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का पाँचवाँ महाधिवेशन कविवर पं० श्रीधर पाठक के सभापतित्व में में हुआ था—सन् १९१४ में। आरा की नागरी-प्रचारिणी सभा की ओर से प्रतिनिधि-मण्डल वहाँ गया था। उसमें आचार्य बदरीनाथ वर्मा, श्री अवधबिहारीशरण, पण्डित ईशरीप्रसाद शर्मा, श्री ब्रजनन्दन सहाय "ब्रजवल्लभ", श्री रघुनाथप्रसाद मुख्तार आदि साहित्यसेवी सम्मिलित थे। चतुर्वेदी जी सम्मेलन के प्रत्येक वार्षिक अधिवेशन में अवश्य जाते थे। प्रत्येक अधिवेशन में सभापति-निर्वाचन का प्रस्ताव सर्वप्रथम वे ही उपस्थित करते थे। सभापति के नाम का अर्थ-विश्लेषण करने में उनका साहित्यिक विनोद सुनने के लिए सभी प्रतिनिधि ऐसे उत्कण्ठित रहते थे कि मंच पर उनके जाते ही करतल-ध्वनि होने लगती थी। वे बाबू श्यामसुन्दरदासजी के अतिथि थे, जो उन दिनों वहाँ कालीचरण हाईस्कूल के प्रधानाध्यापक थे और उसी स्कूल के प्रांगण में सम्मेलन हुआ था। पर वे बिहार के प्रतिनिधि-निवास में सभापति पाठकजी, श्यामसुन्दरदासजी, कविवर राय देवीप्रसाद "पूर्ण" और मिश्र-बन्धुओं को साथ लेकर आये तथा बिहारी प्रतिनिधियों का उन्होंने सबसे परिचय कराया। बिहार पर भी उनका अगाध स्नेह था।

उस सम्मेलन के पहले ही दिन लखनऊ के उर्दू-प्रेमियों ने एक सभा करके हिन्दी की खिल्ली उड़ायी थी। चौबेजी, ब्रजवल्लभजी और पंडित बदरीनाथ भट्ट के उद्योग से दूसरे ही दिन अधिवेशन के बाद रात में सम्मेलन की एक विशेष बैठक हुई, जिसमें कविवर "पूर्ण" जी ने उर्दू-भाषा की प्रत्येक बात का मुँहतोड़ जवाब अपनी तत्क्षण-रचित कविताओं में दिया। उनके आशुकवित्व का विलक्षण चमत्कार देख सभी प्रतिनिधि विस्मयानन्द से पुलकित हो उठे। लखनऊ-सम्मेलन के कार्य विवरण में वह प्रसंग सविस्तर प्रकाशित है।

उसी पाँचवें सम्मेलन में महात्मा मुन्शीरामजी के सुपुत्र श्री हरिश्चन्द्रजी ने छठे सम्मेलन के लिए लाहौर का निमन्त्रण दिया था। किन्तु अखबारी सूचनाओं के अनुसार वे राजा महेन्द्र-प्रताप सिंह के निजी सचिव होकर विदेश चले गये। इसलिए छठा सम्मेलन लाहौर में न होकर सम्मेलन के प्रधान केन्द्र प्रयाग में ही हुआ। मैं उसमें भी गया था। आचार्य श्यामसुन्दरदासजी उसके अध्यक्ष थे। लाला रामप्रसाद के बाग में बड़ा शानदार उत्सव हुआ। भारतेन्दु-सखा पंडित बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' उसमें पधारे थे। वे भारतेन्दुजी की साक्षात् प्रतिमूर्ति ही थे। वेशभूषा भी हरिश्चन्द्री थी। बुढ़ापे में भी उनकी दमकती मुखश्री और उनके रईसी ठाठ-बाट पर प्रतिनिधियों की टकटकी बँध गयी। सम्पादकाचार्य पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी भी प्रथम दिन आये थे। वे जीवनभर कभी किसी अन्य सम्मेलन में नहीं गये। सम्मेलन के सभापतित्व को वे बराबर ठुकराते ही रहे। उनके शुभागमन से प्रसन्न होकर सब लोग यही कह रहे थे कि श्यामसुन्दरदास जी के सभापति होने से ही द्विवेदी जी इस अधिवेशन में सम्मिलित हुए हैं। दोनों आचार्यों की साहित्यिक स्पर्द्धा उस युग में बहुत प्रसिद्ध थी और ऊँचे स्तर के साहित्यिक मण्डल में वह चर्चा का विषय भी बनी रहती थी। किन्तु द्विवेदीजी जहाँ सुदृढ़ स्वाभिमानी थे, वहीं वे सच्चे हिन्दी-सेवक के प्रति सम्मान-प्रदर्शन करने के अपने सिद्धान्त में भी अटल थे। उन्होंने सभापति को उन्मुक्त हृदय से जो आशीर्वाद दिया उसमें श्यामसुन्दरदासजी की हिन्दी सेवा पर अजस्र पुष्पवृष्टि कर डाली। उस समय सभापति के सजल नयनों को देखकर प्रतिनिधि भी भाव-विभोर हो उठे थे।

हिन्दी संसार को मालूम है कि कानपुर में जब राजर्षि पुरुषोत्तमदास टण्डन के सभापतित्व में महासम्मेलन का अधिवेशन हुआ था तब पहले द्विवेदीजी से ही सभापति होने के लिए आग्रह किया गया था, किन्तु जूही (कानपुर) में बहुत दिनों तक रह चुकने के कारण उन्होंने यह कहकर अनिच्छा प्रकट कर दी कि मैं आजतक सभापति नहीं हुआ तो अब अपने ही घर में सभापति बन बैठना मेरे लिए सम्भव नहीं हो सकता। फिर जब चारों ओर से आग्रह का अत्यधिक दबाव पड़ा तब स्वागताध्यक्ष होने को तैयार हो गए। उनका यह स्वागत-भाषण पढ़ने ही योग्य है। केवल टण्डनजी की अध्यक्षता के कारण ही वे स्वागताध्यक्ष भी हुए। क्योंकि टण्डनजी की निःस्पृह सेवा के लिए उनके हृदय में काफी आदरभाव था, नहीं तो सम्मेलन से वे सदैव उदासीन और तटस्थ ही बने रहे।

हाँ, तो उसी छठे सम्मेलन में चतुर्वेदी जी ने बंगभाषा के "अनुप्रासेर अट्टहास" नामक सनसनीदार लेख की गर्वोक्तियों के जवाब में "अनुप्रास अन्वेषण" नामक निबन्ध पढ़ा था। चमकता हुआ फीतेदार काला जूता, चुस्त पाजामा, रेशमी अंगरखा, बसन्ती साफा, सामने की जेब में चेनदार घड़ी, चिरप्रसन्न मुखड़े पर मन्द-मन्द हास्य-रेखा लिये जब चौबेजी मंच की ओर चले तब तालियों की गड़गड़ाहट से पण्डाल गूंज गया। निबन्ध-पाठ के बीच-बीच भी हर्षध्वनि होती रही। अधिवेशन भर तो उल्लासपूर्ण वातावरण बना ही रहा, प्रतिनिधि लोग रास्ते में भी उसी की चर्चा करके आनन्द उठाते रहे। अखबारों में भी उसकी चर्चा खूब ही हुई। अतः चौबेजी के पास उसकी माँग भी आने लगी। वह सम्मेलन की लेखमाला में तो

छपा ही, चौबेजी ने भी उसको पुस्तकाकार में स्वयं प्रकाशित कर दिया। उसकी ललित-मधुर शब्द-योजना और व्यंग्य विनोदपूर्ण छटा देखने योग्य है।

उनकी लिखी पुस्तकों की भाषा-शैली में ठौर-ठौर हास्यरस-बिन्दु सहृदय पाठकों को आप्यायित करते चलते हैं। उनके उपन्यास, नाटक, निबन्ध आदि अब दुर्लभ हो रहे हैं। "बसन्त-मालती", "संसार चक्र", "तूफान", "विचित्र विचरण" ("गलिवर्स ट्रैवलस" का हिन्दी रूपान्तर), "गद्यमाला", "मधुर मिलन" आदि पुस्तकों के नाम भी लोग भूलते जा रहे हैं। अतः उनकी एक सुसम्पादित ग्रन्थावली प्रकाशित होनी चाहिए। उनके स्मारक ग्रन्थ की पाण्डुलिपि बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के संग्रहालय में बहुत दिनों से पड़ी हुई है। उसी के साथ-साथ यदि उनकी सभी रचनाओं तथा भाषणों को भी प्रकाशित कर दिया जाय तो उनकी हास्यात्मक शैली का अध्ययन करने में बड़ी सुविधा हो जायगी। उन्होंने बाबू बालमुकुन्द गुप्त के सम्पादन-काल से ही "भारतमित्र" में जो व्यंग्य-विनोद लिखे थे, वे भी साहित्य-भण्डार में संचित होने योग्य हैं।

उनके सुपुत्र पं० रमावल्लभ चतुर्वेदी जी कहते थे कि "भारतमित्र" में छपी सारी सामग्री प्रयाग के साहित्य-सम्मेलन-भवन के सत्यनारायण कुटीर में सुरक्षित है, जिसे राजर्षि टण्डनजी ने बड़े आग्रह से मँगाया था। वहाँ से उसकी अविकल प्रतिलिपि मँगायी जा सकती है। बिहार-हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के प्रथम वार्षिकोत्सव के सभापति चतुर्वेदीजी ही हुए थे, इस नाते इसी सम्मेलन को ऐसे साहित्यिक यज्ञ का अनुष्ठान करना चाहिए। कम-से-कम बिहार पर उनका जो ऋण शेष है उससे इसी अनुष्ठान द्वारा उद्धार हो सकता है।

उनकी शायद ही कोई रचना ऐसी हो जो पढ़ते समय निर्विकार हास्य न उत्पन्न करती हो आप "भारत की वर्तमान दशा" और "स्वदेशी आन्दोलन" नामक उनकी पुस्तकें पढ़िये उनमें भी हास्य के पुट मिलेंगे। व्यंग्य-विनोद उनके सहज-स्वभाव का मुख्य अंग था। बोल-चाल में भी वे पते की बात कह जाते थे। भाषा-विवाद में भी वे बहुत सोच समझकर पड़ते थे। अपने पक्ष की प्रौढ़ता के लिए पहले से ही पुष्टिकर प्रमाण संग्रहीत कर रखते थे। उनकी युक्तियाँ तर्कसंगत होती थीं। मजाक-पसन्द होने पर भी वे हमेशा इस बात का ख्याल रखते थे कि उसमें कटुता का लेशमात्र भी प्रवेश न हो। नामार्थ-विश्लेषण में भी वे साहित्यिक सौन्दर्य ही प्रदर्शित करते थे, जैसे—महामना मालवीयजी के शुभ नाम का अक्षरार्थ इस तरह किया था—"मद न मोह न" और लाला भगवानदीन का "लाला भगवा न दीन"। उनके इस प्रकार के अर्थ-विवेचन पर वे लोग भी हँसे बिना न रहते थे, जिनके नाम के टुकड़े से मनोरंजक अर्थ निकाले जाते थे। इसीलिए उनकी चमत्कारपूर्ण उक्तियाँ साहित्य-रस के चिरस्पर्श से हृदयग्राहिणी प्रतीत होती थीं।

दिन रात के अपने साथी सकलनारायणजी को भी "समस्तनारायणजी" कहकर उन्हें हँसा देते थे। लोगों को हँसाने में ही उनको सुख मिलता था। किन्तु उनके द्वारा उत्पादित हास्य सर्वदा साहित्यिक सूझ और रागद्वेषरहित आनन्द से ही संवलित होता था।

चतुर्वेदी जी कलकत्ता में रहकर कपड़े की दलाली करते थे। अपनी घोड़ागाड़ी (बग्घी)

पर शेयर-मार्केट जाते थे। उस समय चूड़ीदार पाजामा अचकन और गोल फेल्ट कैप उनका पहनावा था। असहयोग-आन्दोलन छिड़ा तो स्वदेशी वेशभूषा अपना ली। गांधी टोपी पर उनकी एक हास्यरसात्मक कविता साप्ताहिक 'मौजी' (कलकत्ता) में छपी थी, जिसमें अन्यान्य टोपियों से उसकी श्रेष्ठता और पवित्रता दरसायी गयी थी। मारवाड़ी-समाज में भी उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। वे बड़े धड़ल्ले से मारवाड़ी भाषा भी बोलते थे। बंगला बोलने का अभ्यास भी मँज गया था। उन भाषाओं में भी वे शुद्धाशुद्ध का विचार किया करते थे। जो लोग उनके इस विचार से पूर्व-परिचित होते थे, वे लोग उनके साथ बातचीत करते समय सावधान रहते थे। अब कौन ऐसा है जो भाषा के स्वरूप को निखारते रहने में प्रतिक्षण सजग होकर अनुरक्त रहेगा !

उनका मँझोले कद का गौरवर्ण शरीर सब तरह की पोशाकों में खूब फबता था। उनके सौम्य रूप में उनके मनःप्रसाद से और भी भव्यता झलकती थी। ललाट का चन्दन-तिलक, स्वच्छ सघन दन्तावली, श्वेत यज्ञोपवीत, मनहर वाणी, सुपुष्ट शरीर आदि उनके स्वस्थ जीवन के दर्पण थे। कलकत्ता स्थित एक नाटक-मण्डली के रंगमंच पर वे हास्य-रुदन का अभिनय करने लगे तो विविध प्रकार की हँसी और रुलाई के प्रदर्शन से दर्शकों को लोट-पोट कर दिया। अभिनेता के रूप में भी उनका रूप-सौंदर्य दर्शनीय ही था। उनकी मंजुल मूर्ति आज भी आँखों को रमाती-सी जान पड़ती है।

उनकी पुण्य स्मृतियों के पुंज में से ये कुछ कण हिन्दी-पाठकों को सविनय समर्पित हैं।

('वे दिन : वे लोग' नामक पुस्तक से साभार)

●

हिन्दी की हास्य-व्यंग्य विधा का स्वरूप और विकास

डॉ० इन्द्रनाथ मदान

१. आज के सेमिनार का आयोजन पंडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी की जन्मशती मनाने के लिये किया गया है। इस हास्यावतार के बारे में मेरी जानकारी सिफ़र थी। इसे पाने के लिये मुझे हिन्दी साहित्य के तीन धुरन्धर इतिहासकारों का सहारा लेना पड़ा है—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी और डॉ० गणपतिचन्द्र गुप्त। आचार्य शुक्ल से इतनी सूचना मिल सकी है कि हास्य-विनोद के लेख लिखने वालों में जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी का नाम भी बराबर लिया जाता है। वह कलकत्ता के रहने वाले थे। इनके अधिकांश लेख, भाषण मात्र हैं, स्थायी विषयों पर लिखे निबन्ध नहीं हैं (पृ० ४७६)। आचार्य द्विवेदी के **हिन्दी साहित्य** में इनका नाम तक नहीं है, लेकिन डॉ० गुप्त के वैज्ञानिक इतिहास में इनके बारे में थोड़ी जानकारी मिल जाती है—'इनके दो निबन्ध-संकलन छप चुके हैं। एक का नाम **निबन्ध निचय** है और दूसरे का **गद्य माला**, जिनके विषय प्रायः आलोचनात्मक ही हैं। इनकी भाषा शैली में रोचकता और प्रवाह का गुण विशेष रूप में दृष्टिगोचर होता है (पृ० ८४९)। इनके अतिरिक्त इनके एक नाटक **मधुर मिलन** का नाम भी गिनवाया गया है (पृ० ८७९)। इतनी सी जानकारी के बावजूद यह आलेख इसलिए लिखना स्वीकार किया कि इनका नाम तो एक बहाना है, विषय तो हास्य-व्यंग्य विधा के स्वरूप विकास को उजागर करना है।

इस पर बात करने से पहले, जिसका आयोजन इलाहाबाद में किया गया है, इसकी शुरुआत शहर के शायर-व्यंग्यकार से की जाए तो बेहतर होगा। अकबर इलाहाबादी फ़रमाते हैं—

कुछ इलाहाबाद में सामां नहीं बहबूद के।
यां धरा क्या है बजुज़ अकबर के और अमरूद के।।

अमरूद के बारे में मैं कुछ नहीं जानता कि इसकी पुरानी हस्ती मिट गयी है या कायम है, लेकिन इस शहर में व्यंग्यकारों की हस्ती कायम है। एक-दो का नाम लेना खतरे से खाली नहीं है, इनकी कतार इतनी लंबी है और यह हनुमान की पूँछ की तरह बढ़ती जा रही है। एक सवाल जो पैदा होता है वह इस विषय के बारे में है कि व्यंग्य साहित्य की एक विधा है या शैली-मात्र है। विधाएँ तो कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक और निबन्ध हैं और इनमें हास्य-व्यंग्य का उपयोग विशेष उद्देश्य को पूरा करने के लिये किया जाता है। व्यंग्य का स्वरूप क्या है? इसे

अनेक परिभाषाओं में बांधने का यत्न किया गया है जिन में एक यह है—व्यंग्य एक **साहित्यिक** कला है जो विषय या वस्तु को उपहास बनाकर इसे घटाती है और इसके लिये मनोरंजन, घृणा, रोष या तिरस्कार की दृष्टि पैदा करती है। क्या व्यंग्य को साहित्य की सीमा में बांधना उचित होगा? क्या **व्यंग्य-चित्र** में व्यंग्य का पुट नहीं होता? इसे और साफ़ करने के लिये आगे कहा गया है कि व्यंग्य कामद से इसलिये भिन्न है कि कामदी हास्य को पैदा करती है जो अपने में साध्य है, जबकि व्यंग्य उपहासता है, हास्य को एक हथियार के तौर पर इस्तेमाल करता है, एक अहमक के खिलाफ़ जो कृति के बाहर होता है। यह अहमक व्यक्ति हो सकता है (व्यक्तिगत व्यंग्य में), एक टाइप, एक जमात, एक संस्था, एक कौम या मानव जाति। कामदीय और व्यंग्यीय में अन्तर अतियों पर सूक्ष्म हो जाता है जहाँ पात्र सृजन के स्तर पर होता है और इस में उपहास नहीं होता। हिन्दी साहित्य में खोजने पर इसका उदाहरण नहीं मिल सका, जबकि शेक्सपियर में इस तरह का चरित्र फालस्टाफ़ का है।

व्यंग्य का उपयोग या इसकी वकालत वे करते हैं जो मानव के दुराचरण, मूढ़ता को इसके माध्यम से हटाना चाहते हैं। यह और बात है कि इन्सान में हैवान आसन जमाये बैठा है और इसकी दुम संकट के समय बाहर निकल आती है। व्यंग्य की सीमा उन दोषों को दूर करने में है जो इन्सान के वश में हैं, न कि उन दोषों को जिनके लिये इन्सान जिम्मेवार नहीं है। वह अपनी भीतरी दुम के लिये जिम्मेवार नहीं है। हिन्दी साहित्य में किन व्यंग्यकारों ने **किस तरह** और **किन** दोषों को दूर करने की कोशिश की है इसका हिसाब बाद में किया जायेगा। असल में किस तरह की बात जितनी सरल है उतनी ही जटिल है। व्यंग्य उन अनेक कृतियों में भी पाया जाता है जिनका समूचा रचना-विधान व्यंग्यीय नहीं है। इसके कुछ अपवाद हैं—श्रीलाल शुक्ल के **राग-दरबारी** का समूचा रचना-विधान व्यंग्यीय है। इन कृतियों में व्यंग्य कभी चरित्र का है तो कभी स्थिति का, कभी शब्द का है तो कभी व्याख्या का जो मानवीय दशा या समकालीन परिवेश पर होता है। इन कृतियों में व्यंग्य का व्यवस्थित रूप है, लेकिन इसे विधा की पदवी देना कहाँ तक संगत है यह अलग सवाल है। अगर किसी युग पर व्यंग्य का उपयोग हावी हो जाता है तो इसे विधा का दरजा देना संगत नहीं जान पड़ता। भारतेन्दु युग के साहित्य में व्यंग्य का उपयोग अधिक हुआ है, लेकिन निबन्ध की विधा में इसका उपयोग एक उद्देश्य को पूरा करने के लिये किया गया है। नाटक की विधा में व्यंग्य का पुट है जिसके स्वरूप का विवेचन बाद में करना बेहतर होगा।

कुछ आलोचक सीधे और छिपे व्यंग्य में अन्तर खोज निकालते हैं। सीधे व्यंग्य में व्यंग्यीय आवाज़ **मैं-शैली** में निकलती है, **मैं** पाठक से सम्बोधित होता है। पाश्चात्य साहित्य और आलोचना में तरह-तरह की शैलियों को गिनवाया गया है जिनका विश्लेषण एक शोधक को ही अधिक शोभा दे सकता है। भारतीय साहित्य में और आलोचना में इनका नामकरण अभी होना है—जैसे विदूषक-शैली, मांड-शैली, मीरासी-शैली, मसखरा-शैली आदि। इतना साफ़ है छिपे व्यंग्य को कथात्मक रूप में ढालना पड़ता है जिसमें चरित्र व्यंग्य की वस्तु बन जाता है। वह अपने को और अपने विचारों को अपने चिन्तन, कथन और काम से उपहासात्मक बनाता है—**एक गधे की आत्म कथा**। कभी-कभी कथात्मक रूप में लेखक की टीकायें इसे

अधिक उपहासात्मक बना डालती हैं। बदीउज्ज़मां का उपन्यास **छटातन्त्र** इसका उदाहरण है जिसका नामकरण **पंचतन्त्र** के वज़न पर किया गया है। हिन्दी साहित्य में व्यंग्य की परम्परा पुरानी और लंबी है। इसे सिद्धों और सन्तों की रचनाओं में आंका गया है। भक्तों की रचनाओं में भी इसकी साक्षी मिलती है। इनमें व्यंग्य का उद्देश्य अलग-अलग है और यह युग-बोध के भी अनुरूप है जिसका विवेचन हिन्दी के कुछ आलोचकों ने किया भी है। सिद्धों की रचनाओं में पौराणिक आडम्बरों पर गहरी चोटें हैं। कबीर की बानी में हास्य भी सात्विक रोष का परिणाम है। सूरदास के **भ्रमरगीत** में मृदु व्यंग्य की साक्षी मिलती है। तुलसीदास के **रामचरितमानस** में दुष्टवन्दना, शिव विवाह, नारद मोह, रावण-अंगद के संवाद में व्यंग्य का स्वरूप भिन्न है। इस आलेख का मूल उद्देश्य व्यंग्य के पुराने स्वरूप के संकेत दे कर समकालीन हिन्दी साहित्य में व्यंग्य के स्वरूप को उजागर करना है ताकि इसके बदले स्वरूप को या विकास को इंगित किया जा सके।

व्यंग्य के विकास को निरूपित करने से पहले आयरनी या विडम्बना के स्वरूप को थोड़ा साफ़ करना आवश्यक है। आयरनी व्यंग्य का विकसित रूप है या नया रूप है जिसका सम्बन्ध परिष्कृत व्यंग्य से है जो बौद्धिक विकास का परिणाम है। इसे विडम्बना के बजाय आयरनी कहना बेहतर जान पड़ता है। इसका जन्म यूनानी कामदी से माना जाता है जिसमें eiron नाम का पात्र अपने को छिपाता था, अपने को कम समझदार दिखाता था और उस पात्र पर विजय पाता था जो अहमक और शेखीखोरा था। इस तरह आयरनी में मूल बोध छिपाव का है या उस अन्तर का है जो कहने और होने में है। शाब्दिक आयरनी एक ऐसा कथन है जिसके मायनी उससे भिन्न होते हैं जिसे कहा जाता है। इसकी तलाश शायद लक्षणा-व्यंजना में ली जा सकती है। इस समय गाल्ज़वरदी के उपन्यास **फारसाइट सागा** की याद ताज़ा हो रही है। एक ज़मींदार घोड़े पर सवार हो कर अपनी जागीर देखने जाता है। उसके असामी जब सलाम करते हैं तो वह इतना कहकर आगे बढ़ जाता है—The heart of the country side is very sound. इस तरह आयरनी के उदाहरण **गोदान** में भी मिल सकते हैं। लेखक जब आयरनी का उपयोग करता तो वह अपने पाठकों को समझदार मानता है। हिन्दी में आयरनी का उपयोग बहुत कम किया गया है। इससे परहेज़ शायद इसलिये किया गया है कि अधिक कहने से अधिक कह पाने की परम्परा का पालन होता रहा है। वह चाहे **साकेत** के मैथिलीशरण गुप्त हों या **रंगभूमि** के प्रेमचन्द हों। सब का नाम लेना बेकार होगा। कुछ साहित्यिक कृतियां संरचनात्मक आयरनी को उजागर करती हैं। इस तरह की कृतियों में लेखक कभी-कभी शाब्दिक आयरनी का उपयोग करने के बजाय ऐसी संरचना का समावेश करता है जिसमें दो मायनी साथ-साथ चलते हैं। बदीउज्ज़मां का उपन्यास **छटातंत्र** इसका उदाहरण है। इसमें बिल्लियों और चूहों के माध्यम से मानव की नियति और शोषक शोषित की स्थिति पर आलोक डाला गया है और समकालीन वास्तव को उजागर किया गया है। इसमें नोट करने की बात यह है कि लेखक और पाठक दोनों आयरनीगत दृष्टिकोण को समझते हैं, लेकिन बिल्लियों और चूहों की समझ से यह बाहर है। यह स्थिति **पंचतन्त्र** में भी एक सीमा तक मिलती है। एक और तरह की आयरनी का उपयोग भी किया गया है जिसे सुकराती आयरनी कहते हैं। इसमें दार्शनिक संवाद

होता है। इस संवाद में एक पात्र अर्जुन की तरह संशय से घिरा रहता है और दूसरा कृष्ण की तरह उसके संशय को दूर करता है। आयरनी की किस्में और भी हैं जैसे नाट्यात्मक आयरनी, रोमांटिक आयरनी आदि।

जहाँ तक हिन्दी-साहित्य का सवाल है इसमें हास्य और आयरनी के बजाय व्यंग्य की मात्रा अधिक है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य की शुरुआत भारतेन्दु-युग से मानी जाती है। इस युग में उपन्यास-कहानी, निबन्ध जैसी नयी साहित्यिक विधाओं का जन्म माना जाता है। कविता और नाटक तो पुरानी विधाएं हैं। आज से दस साल पहले मुझे **कविता और कविता** नाम का एक संकलन तैयार करने का अवसर मिला था जिसका उद्देश्य था—उन कविताओं को देना जो रचना की दृष्टि से संश्लिष्ट हों या जिन में कम से कम दरारें हों। इसमें भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, मैथिलीशरण गुप्त, अयोध्यासिंह उपाध्याय आदि नामवर कवियों को इसलिये छोड़ना पड़ा कि खोजने पर भी इनकी कविताएं नहीं मिल सकीं। इस संकलन पर सरसरी नज़र डालने पर यह लगा है कि उस समय व्यंग्य की धार इतनी पैनी नहीं थी जितनी आज है या समकालीन साहित्य में है। यह हो सकता है कि साहित्य या विशेष रूप से कविता भावुकता से अपना दामन छुड़ा नहीं सकी थी। कविता छायावादी युग तक या तो दिल से निकलती रही है या गले से, लेकिन अब यह दिमाग से निकलने की गवाही देने लगी है और इसमें व्यंग्य का पुट गहराने लगा है जिसका सम्बन्ध बौद्धिक विकास से है। यह सही है कि कविता में विचार का निषेध नहीं है या विचार-कविता आज के युग की देन है। भारतेन्दु और द्विवेदी युग की कविता में भी विचारों की कमी नहीं है, लेकिन विचार सृजन का अभिन्न नहीं बन सके, संवेदना में सने हुए नहीं हैं। मुक्तिबोध की शब्दावली में ज्ञान संवेदनात्मक नहीं है या संवेदना ज्ञानात्मक नहीं है।

अब समस्या यह है हास्य-व्यंग्य और आयरनी (यदि वह थी) का स्वरूप उस समय क्या था और इनका स्वरूप किस तरह बदल गया है—कविता में, कथा-साहित्य, नाटक और निबन्ध में। जहाँ तक विषयों का सवाल है व्यंग्य और हास्य के विषय समसामयिक होते हैं। उस युग के विषयों की गिनती से यह स्पष्ट हो जाता है कि इनमें कितनी विविधता और समकालीनता है—वेश्यागमन, मदिरापान, हुक्कापान से लेकर बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह, जुआ, महाजनी, वैधव्य को समेट कर, खुशामद, उपाधि, नापित और रेलगाड़ी तक को लिया गया है और डॉ० वीरेन्द्र मेंहदीरत्ता ने अपनी पुस्तक **आधुनिक साहित्य में व्यंग्य** (१९५७-१९०७) में इनका विवरण विस्तार से दिया है। इसलिए इन्हें दोहराना अनावश्यक है। भारतेन्दु युग की कुछ ही रचनाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि व्यंग्य का स्वरूप कितना भोंडा, स्थूल और बदरंग है जिसकी गवाही आज भी काका-छाप हास्य-व्यंग्य में मिल जाती है। बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी, बालमुकुन्द गुप्त की अधिकांश रचनाओं में हास्य-व्यंग्य का स्वरूप काका-कोटि का है। इनके व्यंग्य में न कहीं दुराव है और न ही छिपाव और चोट सीधे की गयी है। यह चोट भी सुनार की न होकर लोहार के हथौड़े की है। भारतेन्दु की **अन्धेर नगरी** में पुलिस वालों पर व्यंग्य का एक उदाहरण—

चूरन पुलिस वाले खाते।
सब कानून हजम कर जाते॥
(भारतेन्दु ग्रन्थावली, पृ० ६६३)

प्रतापनारायण मिश्र के उपाधि नामक निबन्ध में यह लिखा गया है—उपाधि की रक्षा के लिए कपड़ा-लत्ता, चेहरा-मुहरा, सवारी-शिकारी, हजूर की खातिरदारी आदि में घर के धान पयार में पड़ेंगे।...इसी से कहते हैं कि उपाधि का नाम बुरा। उपाधि पाना अच्छा ही सही, पर ऐसा ही अच्छा जैसा गधे पर चढ़ के बैकुण्ठ जाना। इसलिए कुछ हिन्दी साहित्यकार गधे पर चढ़ कर पर बाद में इससे उतर गए थे और बैकुण्ठ पहुँच कर लौट आए थे। अब इसलिए शायद जनता सरकार ने उपाधि-वितरण बन्द कर दिया है। मिश्र कभी-कभार मीठी चुटकी भी ले लेते हैं। शस्त्र एक्ट पर इनकी रचना है—

जहां सिंगार में कर्हाहि, रसिक कवि मतिराम।
नारिन की भृकुटी धनुष, सूधी चितवनि बान॥
हाय तहां लैसन्स बिन, मिलत नहिं हथियार।
निशि में चाहे चोर सब लूटि लेहिं घरबार॥

इन पंक्तियों में काका-छाप शैली का उदाहरण मिल जाता है। इस तरह भारतेन्दु युग के हिन्दी साहित्य में व्यंग्य राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक, सांस्कृतिक कुरीतियों को दूर करने के लिए है और जिसका उद्देश्य सुधार था और सुधार आज भी है, विषय समकालीन पहले भी थे और आज भी हैं। इलाहाबाद के शायर आनन्द नारायण मुल्ला ने ठीक ही कहा है—

दुनिया के वही किस्से हैं मगर उनवान बदलते जाते हैं।
नफ़रत कायम है अपनी जगह इन्सान बदलते जाते हैं॥
फितरत के तकाजों पर पहरे हैं आज भी रस्मो-ईमां के।
कैदी के फ़क्त बहलाने को दरबान बदलते जाते हैं॥
श्रद्धा के अंधेरे घाट पै अब भगतों की भगती नहीं।
ठाकुर जी संभालो ठकुराई यजमान बदलते जाते हैं॥
नेकी व बदी के खानों की हर रोज लकीरें मिटती हैं।
जिन्दा दुनिया की नजरों के मीजान बदलते जाते हैं॥

यह सन् १९४६ की बात है और तब से आज तक अगर हास्य-व्यंग्य का मिजाज और अन्दाज़ बदला है तो इसकी वजह साफ़ है।

अब देखना यह है कि कविता, कहानी आदि में यह किस तरह और कैसे बदला है? अब तक मुझे एक ही व्यंग्य की कविताओं का संकलन मिला है जिसमें समकालीन रचनाओं का चयन किया गया है। **रोशन हाथों की दस्तकें**—संपादन श्यामसुन्दर घोष का है जो आधा-अधूरा है। निराला के व्यंग्य-काव्य से अगर इसकी शुरुआत की जाती तो यह बेहतर होता। निराला की कविताओं पर सरसरी नज़र डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि विसंगति

के मूल में व्यंग्य का पुट है और आयरनी का बोध व्यंग्य-बोध पर हावी है। इनके काव्य-संकलन **नये पत्ते** में रचना चाहे **खजोहरा** हो या **मास्को डायलाग्स, चरखा** चला हो या **गर्म पकौड़ी प्रेम संगीत** हो या **झींगुर डट कर बोला**। अधिकांश कविताओं में व्यंग्य का स्वरूप राजनीतिक है शोषक-शोषित के सम्बन्ध पर चोट है। इनकी लंबी कविता **कुकुरमुत्ता** में, जिसे महादेवी ने निराला के चाहते हुए भी **अपरा** में शामिल करने से परहेज़ किया था विसंगति के बोध को व्यंग्य के माध्यम से उजागर किया गया है, इसमें उपहास की शैली भाषा की गरिमा और वस्तु की गंभीरता को तोड़ती है और छायावादी कुलीनता और शालीनता से हटने की गवाही देती है। निराला के व्यंग्य-काव्य के बारे में रामविलास शर्मा से लेकर मदान तक ने इतना लिखा है कि इसे दोहराना बेकार लगता है। इनकी व्यंग्य-रचनाओं में राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक परम्पराओं पर करारी चोटें की गयी हैं, कभी-कभी तो समूचे सामाजिक विधान पर चोट है। यह अभिजात काव्य-रचना के माध्यम से संभव नहीं है। भारतेन्दु युग के व्यंग्य-काव्य को जिस तरह खड़ी बोली को माध्यम बनाना पड़ा था उसी तरह निराला को छायावादी भाषा से छुटकारा पाना पड़ा है। इनका व्यंग्य-काव्य-रचनाशीलता के नये आयाम को खोलता है। इसमें करुणा के बजाय हास्य और व्यंग्य हैं। **खजोहरा** नामक कविता, दूधनाथ सिंह के अनुसार, रवीन्द्रनाथ ठाकुर की विजयिनी के विरोध में है, अभिजात के विरोध में है।[1] निराला की लंबी कविता **कुकुरमुत्ता** में हास्य और व्यंग्य का अनूठा मेल है। इसके गहरे में उतर कर आंकें तो इसमें शोषक के लिए या गुलाब के लिए इतनी घृणा नहीं है जितना उपहास है। इसी तरह गोली और बहार को अपने सामने रखने में घृणा का निरूपण नहीं किया गया है। इसी तरह गोली और बहार को अपने सामने रखने में घृणा का निरूपण नहीं किया गया है। डॉ० रामविलास शर्मा ने इसमें व्यग्य के उद्देश्य को उथले पर पहचाना है, इसके बारे में विसंगति के बोध को नहीं आंका है। आधुनिक हिन्दी कविता में व्यंग्य की परम्परा को नागार्जुन ने अपने तौर पर सम्पन्न किया है। इनके व्यंग्य का उद्देश्य राजनीतिक है, शोषक और शोषित में, विशिष्ट और सामान्य में अन्तर को व्यंग्य के माध्यम से उजागर करना है। **वे और तुम** कविता में इसका सटीक उदाहरण मिल जाता है—

> **वे लोहा पीट रहे हैं**
> **तुम मन को पीट रहे हो।**
> **वे पत्तर जोड़ रहे हैं,**
> **तुम सपने जोड़ रहे हो।**

इस विषमता को आंकने के बाद कवि अपने पर व्यंग्य करता है—

> **उनको दुख है**
> **नये आम की मंजरियों को पाला मार गया है।**
> **तुम को दुख है**
> **काव्य-संकलन दीमक चाट गए हैं।**[2]

---

१. आत्महन्ता निराला, पृष्ठ २३२। २. प्यासी पथराई आँखें, पृष्ठ ५४।

इस तरह मीठी चुटकियां लेना, उपहास करना व्यंग्य के विकसित रूप की गवाही देता है जो भारतेन्दुकालीन व्यंग्य के स्वरूप से हट कर है। इसमें रोष की भंगिमा का अभाव है। **चौराहे के उस नुक्कड़ पर** कविता में कवि अभिजात की परम्परा को तोड़ते तो अवश्य हैं लेकिन वह निराला की तरह भदेस का समावेश नहीं करते हैं—

चौराहे के उस नुक्कड़ पर
कांटों का बिस्तर बिछा कर
सोया साधू दाढ़ी वाला
लोग तमाशा देख रहे हैं
सेठों की गलियों का नुक्कड़
कांटों पर लेट कर फक्कड़
चमक रहे पैसे दो पैसे
और पांच पैसे, दस पैसे
जैसी श्रद्धा सिक्के वैसे
निकल रहे हैं जैसे-तैसे
कांटों पर सोया है कैसे
नागफनी गिरगिट जैसे
श्रद्धा का तिकड़म से नाता
जय हे भिक्षुक जय हे दाता
. . . .
पियो संत हुगली का पानी
पैसा सच है दुनिया फ़ानी।

इसी तरह की सपाटबयानी और सरलबयानी से व्यंग्य की धार पैनी हो जाती और **गिरगिट** शब्द से साधू का व्यक्तित्व उजागर होने लगता है और **जय** से कौमी गीत की ध्वनि निकलने लगती है। इसमें व्यंग्य का उपहास्यात्मक पहलू उभरने लगता है जो भारतेन्दु युग के व्यंग्य का भेजा हुआ रूप है।

दुष्यन्त कुमार ने व्यंग्य का उपयोग या तो व्यक्तिगत स्तर पर किया है या राजनीतिक स्तर पर, **कुण्ठा** नामक कविता में व्यक्तिगत धरातल पर और **साये में धूप** नामक संकलन में राजनीतिक धरातल पर। **कुण्ठा** में मिथकीय शैली का उपयोग कविता के स्तर को उठाता है।

गर्भवती है
मेरी कुण्ठा
मेरी कुण्ठा—क्वारी कुन्ती

और समूचे रचना-विधान को व्यंग्यात्मक रूप देता है। इनकी गज़लों में व्यंग्य की धार अधिक पैनी और तीखी हो जाती है जिसकी गवाही कुछ उदाहरणों से मिल जाती है। इनका सम्बन्ध भारत में आपातकालीन स्थिति से है—

अब किसी को नज़र आती नहीं कोई दरार,
घर की हर दीवार पर चिपके हैं इतने इश्तहार।
मैं बहुत कुछ सोचता रहता हूं पर कहता नहीं,
बोलना भी है मना, सच बोलना तो दरकिनार।
इस सिरे से उस सिरे तक सब शरीके जुर्म हैं।
आदमी या तो ज़मानत पर रिहा है या फ़रार।
रौनक़े-जन्नत जरा भी मुझ को रास आई नहीं,
मैं जहन्नुम में बहुत खुश था मेरे परवरदिगार।

अगर राजनीतिक स्तर पर भारतेन्दु-युग के व्यंग्य की तुलना समकालीन व्यंग्य से करनी हो तो दुष्यन्त कुमार की गज़लों को पेश किया जा सकता है जिनमें व्यंग्य के स्वरूप में इतना निखार देखने को मिलता है। भारत की बुरी हालत पर भारतेन्दु-युग के कवि भी रोते थे और दुष्यन्त कुमार भी, लेकिन रोने के ढंग में भारी अन्तर पाया जाता है जो इन शेरों से स्पष्ट है—

कल नुमाइश में मिला वो चीथड़े पहने हुए,
मैंने पूछा नाम तो बोला कि हिन्दुस्तान है।

इसमें कम कहने से व्यंग्य की धार अधिक तीखी हो जाती है। भारतेन्दु-युग में व्यंग्य का स्वरूप ढोल पीटने की तरह है, लेकिन दुष्यन्त कुमार का या समकालीन कविता में व्यंग्य पोल खोलने के समान है—

गूँगे निकल पड़े हैं, जुबां की तलाश में
सरकार के खिलाफ़ ये साजिश तो देखिए।

इस तरह **साये में धूप** में व्यंग्य का स्वरूप मंजा हुआ है जो इसके विकास को इंगित करता है। यह अधिकांश राजनीतिक स्तर पर है, कभी-कभी वैयक्तिक स्तर भी है, लेकिन यह गाली का रूप धारण नहीं करता, सीधे चोट भी नहीं करता। अगर इसे **आयरनी** कहा जाए तो अधिक संगत होगा—

सैर के वास्ते सड़कों पे निकल आते थे
अब तो आकाश से पथराव का डर होता है
जिस तरह चाहो बजाओ इस सभा में
हम नहीं हैं आदमी, हम झुनझुने हैं।

या

तुझे कसम है खुदी को बहुत हलक न कर
तू इस मशीन का पुरजा है, तू मशीन नहीं।

इस तरह मानव की नियति और स्थिति पर व्यंग्य इसके नये आयाम को सूचित करता है। हिन्दी वाला यह कहे कि गजल का ठेका तो उर्दू ने ले रखा है। यह बात अगर कहने की नहीं है और मैंने इसे कह दिया है तो इसकी सजा मैं भुगतने के लिए तैयार हूँ।

लक्ष्मीकान्त वर्मा की कविता में व्यंग्य का स्वरूप निराला है, आदि से अन्त तक केवल अतुकान्त है, आसपास की विसंगतियों को नंगा करता चला जाता है। **मैं** के माध्यम से वह जग का मुजरा तो देखते हैं, लेकिन भीतर की पीड़ा पूरी तरह इन्हें तटस्थ नहीं होने देती। **अतुकान्त** और **तीसरा पक्ष** की रचनाओं में इसकी बराबर गवाही मिलती है। **तीसरा पक्ष** की कविताओं में पीड़ा का बोध अधिक गहरा है जो देश-विदेश के परिवेश को समेटता है। अपने पर व्यंग्य कसते हुए इनका कहना है—

कमीज़ के बटन
बटन-होल से बाहर जो
दांत निकाले-से पड़े हैं
उन्हें समेट लो...
आस्तीन के कालर
कोट की सीमा से बाहर मत जाने दो
......गाल चिपके
......बाल बिखरे
...फूलकर......
...तन कर......
...बैठो न......[1]

इस तरह वह अपने को बनाते हैं, दूसरों को बनाना तो सब को आता और भाता भी है, लेकिन मज़ा तो तब है जब अपना मज़ाक खुद उड़ाया जाए। यह व्यंग्य का विकसित रूप है। पाठक सोचता है कि कवि अपना मज़ाक उड़ा रहा है, लेकिन बाद में पता चलता है कि चोटें कहाँ पड़ रही हैं। यह व्यंग्य का परिष्कृत रूप है जिसे मैं आयरनी का नाम देना बेहतर समझता हूँ, जबकि आलोचक इसे विडम्बना कहते रहे हैं। **यज्ञ मैंने भी किये थे** में कवि को जब असफलता का मुंह ताकना पड़ा है तो इसका सामना करने के लिए वह आयरनी का सहारा लेते हैं। मैंने मोती संजाये, लेकिन वे नकली निकले, भूदान में **बंजर** ज़मीनें दिलाई हैं, पद-यात्रा के साथ **बुद्धि-दान** भी किया है, लेकिन क्रास के बिना मसीहा न बन सका। इस अंदाज़ में यह लम्बी कविता जारी रहती है।[2] कविता में व्यंग्य की यह बात बंगाली की बात और बंगालिन के बाल की तरह बेहद तूल पकड़ रही है; जबकि आज का युग बालों को बॉब करवाने का है। संकेत से काम लेना बेहतर होगा। एक शायर ने ठीक ही कहा है—

ज़माने को फुरसत नहीं है गुफ्तगू की
अख़्से-सुखन ये इशारों के दिन हैं।

रघुवीर सहाय के कवि ने आयरनी का उपयोग जीवन में विसंगतियों का सामना करने के लिए किया है वे चाहे वैयक्तिक हों, सामाजिक हों या राजनीतिक। इनकी आत्म-सजगता

१. अतुकान्त, पृष्ठ १९३। २. कवितान्तर, पृष्ठ १७४।

के मूल में आधुनिकता का बोध है। इनका कहना है कि लोकतन्त्र ने--मोटे, बहुत मोटे तौर पर हमें इंसान की शानदार ज़िन्दगी और कुत्ते की मौत के बीच चाँप दिया है। राजनीति के प्रति इनका दृष्टिकोण संकटकालीन है और इस संकट से भागना भी नहीं है। इसे फिजूल कह कर इससे पलायन भी नहीं करना है और सामना करने के लिए एक सजग साहित्यकार के नाते वह आयरनी से काम लेते हैं जो गहरे में झकझोरती है। जहाँ तक व्यंग्य आयरनी को उजागर करने की भाषा का सवाल है यह सपाट और सधी हुई है। इसे सरलबयानी के बजाय सपाट-बयानी कहना बेहतर होगा। सरलबयानी से कविता कविता नहीं बनती, वक्तव्य बन कर रह जाती है। **सभी लुजलुजे** हैं इसका उदाहरण है।[१]

> सभी लुजलुजे हैं,
> मोल तोल करते हैं, हिचकिचाते हैं, मुकर जाते हैं
> ऐंठते हैं, बिछ जाते हैं,
> तपाक से मिलते हैं, कतरा जाते हैं
> बीड़ा उठाते हैं, बरा जाते हैं
> सभी लुजलुजे हैं
> गिजगिज हैं, गिलगिल हैं।

इस तरह परस्पर-विरोधी स्थितियों को अपने-सामने रखने से व्यंग्य की धार तीखी होने की गवाही देती है। **शांति दो, प्रभु की दया** में विसंगति के बोध को व्यक्त करने के लिए व्यंग्य को माध्यम बनाया गया है। **आत्महत्या के विरुद्ध** की अधिकांश कविताओं में आयरनी राजनीतिक स्तर पर है। **एक अधेड़ भारतीय आत्मा** नामक लंबी कविता में आयरनी आस-पास के परिवेश को सपेटती और काटती चली जाती है—

> हर संकट भारत में एक गाय
> होता है
> ठीक समय ठीक बहस कर नहीं सकती है
> राजनीति
> बाद में जहां कहीं से भी शुरू करो
> बीच सड़क पर गोबर कर देता है विचार
> हाय-हाय करते हुए हां-हां करते हुए हैं हैं करते हुए
> समुदाय
> एक हजार लोग ध्यान-मग्न सुनते हुए
> एक अदद रिरियाता है सितार
> जगे रहो जाने किस वक्त सब एकमत हो जायें।

इसलिए शायद भारतभूषण अग्रवाल ने रघुवीर सहाय के कवि को भीड़ से घिरा एक व्यक्ति

---

१. सीढ़ियों पर धूप में, पृष्ठ १४०।

कहा है जो भीड़ बनने से इन्कार करता है और इससे भाग जाने को ग़लत समझता है। अगर इसके पास आयरनी का कवच न होता तो यह कभी का मैदान छोड़ गया होता। कवितायें और भी हैं जिनकी रचना इस अन्दाज़ में की गयी है—**आत्महत्या के विरुद्ध, भीड़ में मैकू और मैं, अधिनायक, फूल-शूल, कोई एक और मतदाता** और **फिल्म के बाद एक चीख** जिसमें व्यंग्यात्मक चित्रण समय की भाषा में किया गया है जो वाक्य-विन्यास को तोड़ने का परिणाम है—

न सही यह कविता
यह मेरे हाथ की छटपटाहट ही सही
यह कि मैं घोर उजाले में खोजता हूँ
आग
जब कि हर अभिव्यक्ति
व्यक्ति नहीं
अभिव्यक्ति
जली हुई लकड़ी है न कोयला न राख

मुक्तिबोध की भाषा में रघुवीर सहाय अभिव्यक्ति के सब खतरे उठाते हैं और इसमें आयरनी को पैना और व्यंग्य को तीखा बनाते हैं।

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना का कवि-व्यक्तित्व काठ की घंटियाँ बजाते-बजाते **बकरी** में घड़ियाल की मुनादी तक पहुँच गया है जिसमें व्यंग्य का स्वरूप छिप कर चोट नहीं करता, व्यवस्था पर सीधे हमला करता है। अज्ञेय का सर्वेश्वर के बारे में यह कहना सही है कि इनका तीखा व्यंग्य, जो गद्य और पद्य दोनों रूपों में प्रकट हुआ है, उनके कवि-रूप की प्राथमिकता को खण्डित नहीं करता।[1] इसका मतलब शायद यह है कि व्यंग्य से कविता की सृजन-प्रक्रिया को ठेस नहीं लगती जैसा कि भारतेन्दु-युग में व्यंग्य कविता पर ही हावी हो जाता था। इस तरह आधुनिक कविता में व्यंग्य के स्वरूप-विकास को आँका जा सकता है। सर्वेश्वेर की कविता में व्यंग्य-यात्रा वैयक्तिक धरातल से राजनीतिक धरातल की ओर जारी है। **लिपटा रजाई में** वैयक्तिक व्यंग्य उभरता है—

लिपटा रज़ाई में
मोटे तकिये पर धर कविता की कापी
ठंडक से अकड़ी उंगलियों से कलम पकड़
मैंने इस जीवन की गली-गली नापी,
हाथ कुछ लगा नहीं
कोई भी भाव कम्बख्त जगा नहीं।[2]

---

१. काठ की घंटियाँ, भूमिका, पृष्ठ ७।
२. वही, पृष्ठ ३२८-२९।

इसके बाद जीवन-वास्तव का सामना करना बेहतर समझा गया है जिसका सम्बन्ध विपरीत स्थिति से है और इन दो विरोधी स्थितियों को अपने सामने रखने से व्यंग्य का स्वर उभरता है, लेकिन कविता का अन्त इन शब्दों में किया गया है—

चीख़-चीख यह मेरा आसपास है
यह सब कुछ लिखना-पढ़ना कल्पना-विलास है।

यह मेरा आलेख भी इसी तरह की कोशिश है। मैंने सरदी के मौसम में अकड़ी उंगलियों से कलम घसीटी है, कविता का एक-एक संकलन दोबारा पढ़ डाला है, लेकिन व्यंग्य का स्वरूप-विकास हाथ से सरकता रहा है, हाथ केवल इलाहाबाद के अमरूद और व्यंग्यकार लगे हैं जिनमें सर्वेश्वर भी शामिल हैं। इस अन्दाज़ में इनकी अनेक कवितायें रची गयी हैं—**युग जागरण का गीत, खाली समय में, सरकंडे की गाड़ी, सौन्दर्य बोध** (काठ की घंटियाँ) और **व्यंग्य मत बोलो** (एक सूनी नाव)। इनमें विषयों की विविधता है और बोरियत के बोध की एकरसता है। **व्यंग्य मत बोलो** में इन्सान के दोगलेपन पर करारी चोट इस तरह है—

कुछ सीखो गिरगिट से
जैसी शाख वैसा रंग
जीने का यही है सही ढंग
अपना रंग दूसरों से अलग पड़ता है तो
उसे रगड़ धो लो
व्यंग्य मत बोलो

सर्वेश्वर की कविता में व्यंग्य वैयक्तिक धरातल से राजनीतिक धरातल पर **गर्म हवाएँ** में आने लगता है, कवि वस्तुस्थिति के स्वीकार से उबरने लगता है जिसकी गवाही **पंचधातु** कविता में मिलती है—

मैं जानता हूँ
क्या हुआ तुम्हारी लंगोटी का
उत्सवों के अधिकारियों के
बिल्ले बनाने के काम आ गयी
और तुम्हारी लाठी?
उसी की टेक पर चल रही है
एक बिगड़ी दिमाग डगमगाती सत्ता

इस तरह गांधीजी के चश्मे, चप्पल और घड़ी को लेकर व्यंग्य के राजनीतिक पहलू पर बल दिया गया है, अन्तिम तान इस पर तोड़ी गयी है—

अच्छा हुआ तुम चले गये
अन्यथा तुम्हारे तन का
ये जननायक क्या करते
पता नहीं।

इसी तरह एक प्रोफेसर का मज़ाक **दूसरों के कपड़े पहन कर** नामक कविता में उड़ाया गया है और अन्त में अपना मज़ाक उड़ाया गया है—दूसरों के कपड़े पहन कर सड़क पर देखे गए सर्वेश्वर। इनके व्यंग्य में कड़वापन नहीं है। यह सही कहा गया है कि इनकी **सूनी नाव** भर गयी है और व्यंग्य आयरनी में बदल गया है जो इनकी तटस्थता का परिणाम है। और तटस्थता से आशय उदासीनता नहीं है।

श्रीकान्त वर्मा की कविताओं में व्यंग्य का स्वरूप सूक्ष्म और पैना है जो कवि की तटस्थ और उदासीन दृष्टि की देन है और यह कभी-कभी रूढ़ि का शिकार हो जाती है। श्रीकान्त व्यंग्य से खिलवाड़ करते नज़र आते हैं, शब्दों के हेरफेर से इसे उजागर करते हैं जिसकी गवाही **एक मुरदे का बयान** में मिल जाती है—

मैं एक कवि था। मैं एक झूठ था।
मैं एक बीमा कम्पनी का एजेंट था।[1]

युद्ध और क्लिप कविता में विसंगति के बोध को व्यंग्य के माध्यम से व्यक्त किया गया है। युद्ध के बारे में उदासीनता को मुखर करने के लिए काकरोच को मरकज़ में रखा गया है जो कवि के मन की एक स्थिति को रेखांकित करता है—

युद्ध अगर होगा तो होगा
ज़ाहिर है एक काकरोच को
ले कर नहीं होगा।
जिसे हो, उसे हो, काकरोच को,
युद्ध का डर नहीं
पास से गुज़रती हो
तो गुज़र जाए
सुन्दरता
एक काकरोच को
लुभाती नहीं
कोई भी सुन्दरी
काकरोच को क्लिप की तरह
बाल में उठाकर
लगाती नहीं।

इसमें उदासीनता की स्थिति में काकरोच के माध्यम से अभिव्यक्ति देने की कोशिश में आयरनी का हल्का पुट दिया गया है। **जलसाघर** की कविताओं में व्यंग्य का स्वरूप राजनीतिक होने की गवाही देने लगता है। कवि उदासीनता की स्थिति से छुटकारा पाना चाहते हैं—

---

१. दिनारम्भ, पृष्ठ ४९।

शांति का अर्थ किस भाषा में शांति नहीं ?
युद्ध का अर्थ किस भाषा में युद्ध नहीं ?
इतना ही है
कि शांति याददाश्त के लिए
मोरपंख की तरह किताबों के बीच रखी हुई है
युद्ध दस्तक दे रहा है
पृथ्वी की एक-एक सड़क पर
भाग रहा है
मनुष्य
युद्ध पीछा कर रहा है।[1]

इनकी कविता में कहीं-कहीं व्यंग्य का पुट है, इसका समूचा रचना-विधान व्यंग्यात्मक नहीं है। इसलिए व्यंग्य एक हलकी-सी चुभन तो दे जाता है, लेकिन झकझोरता नहीं है। कवि की स्थिति काकरोच की स्थिति है। विपिन कुमार अग्रवाल की कविता में व्यंग्य की तीखी धार आसपास को काटती चली जाती है। **स्वीकृति, सफ़र, बादशाह** जैसी छोटी-छोटी कविताओं में इसकी गवाही मिल जाती है, विशेष रूप में **बादशाह** कविता में—

मैं जब बीमार पड़ता हूँ
सब को बहुत डांटता हूँ,
हर कोई मेरी डांट
खुशी-खुशी सह लेता है,
फिर थक जब सो जाता हूँ
और सो कर उठ जाता हूँ
तब लगता है इस दुनिया में
बादशाह बनने का विचार सब से पहले
किसी बीमार को ही आया होगा

अन्तिम पंक्तियों में व्यंग्य को उभारने के लिए पहले की पंक्तियों की रचना की गयी है ताकि यह चमत्कृत हो सके।

हर आधुनिक कवि ने वैयक्तिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक विषमताओं को उजागर करने के लिए हास्य-व्यंग्य-आयरनी का एक अस्त्र के रूप में इस्तेमाल किया है। यह कभी आंशिक रूप में है तो कभी कविता के पूरे रचना-विधान में है। वह चाहे गिरिजाकुमार माथुर हों (इतिहास : विकृत सत्य) या शकुन्त माथुर (इन्तज़ार का नया ढंग), धर्मवीर भारती हों (तटस्थ) या भारतभूषण अग्रवाल हों (जहाँ मैं हूँ, परम्परा : एक नयी उपलब्धि), अजित कुमार हों (कवियों का विद्रोह) या रामदरश मिश्र (सुखी लोग), भवानीप्रसाद मिश्र हों (अभिव्यक्ति) या देवेन्द्र कुमार (कटघरे में, क़ब्रगाह), कुमार विकल हों (नया पाठ) या रमेश गौड़ (आत्म-स्वीकृति), केदारनाथ सिंह हों (फर्क नहीं पड़ता) या श्रीराम वर्मा (आत्म-

स्वीकृति), कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह हों (सुराज) या ऋतुराज (सांढ)। कवि अनेक हैं और कविताओं की भरमार है। इनमें हास्य व्यंग्य का उपयोग विषमताओं को उजागर करने के लिए किया गया है—कुरूपता और सुन्दरता में विषमता, तुछ और उदात्त में असंगति, विसंगति और बुद्धि में मूल्यवान और मूल्यहीन में, सार्थक और निरर्थक में। इस तरह कामद असंगतियों और विषमताओं से फूटता है। साहित्य में कामदीप की विशेषता विकसित आलोचनात्मक संवेदना में उजागर होती है। हास्य आलोचना के काटने वाले रूप का परिणाम होता है जो छूत के रोग के समान सब को लग जाता है। हास्य के लिए लालित्यगत दृष्टि दरकार होती है वरना यह भोंडा और अश्लील रूप धारण कर लेता है। कामदीय के बारे में दो दृष्टिकोण हैं—व्यंग्य और हास्य जो लेखक के उद्देश्य पर आश्रित हैं। व्यंग्य उस सब को नंगा करता है जो राजनीतिक, नैतिक, सामाजिक आदर्शों के अनुकूल नहीं होता। हास्य और व्यंग्य के बीच हँसी की विभिन्न रंगतें हैं।

शकुन्त माथुर की कविता **इन्तजार का नया ढंग**[1] में विनोद का पुट है। पत्नी घर का सारा काम-काज कर चुकी है, लेकिन फिर भी लौटे नहीं हैं आप पर तान तोड़ी गयी है। इस तरह इन्तज़ार के नए ढंग को उजागर किया गया है। गिरिजाकुमार की **बौनों की दुनिया** में लघु मानव का और **इतिहास : विकृत सत्य** में इतिहास का मज़ाक उड़ाया गया है।[2] इस तरह हास्य और व्यंग्य की रंगतों में विविधता है। भारतभूषण अग्रवाल की कविता **परम्परा : एक नयी उपलब्धि** में इन्सान के बिकने पर व्यंग्य का बाण छोड़ा गया है—

पहले बिके धर्म पर
फिर बिके भक्ति पर
रूप पर मध्य युग में बिके
बिकना तो अपनी परम्परा है
आज इस संकट की बाढ़ में
अब कहीं धर्म नहीं
भक्ति नहीं,
रूप नहीं
हार कर हम बिके चांदी के टुकड़ों पर[3]

आधुनिक कवियों में धूमिल ने व्यंग्य और आयरनी का उपयोग सधे रूप में किया है और अधिकांश व्यंग्य राजनीतिक हैं। **पट कथा** इसका सटीक उदाहरण है। इस लंबी कविता पर मुक्तिबोध की कविता अंधेरे में हावी लगती है। **पट कथा** में सब कुछ अंधेरे में होता है। इस कविता का नायक भी अपने को बन्द पाता है। इन दोनों में अन्तर परिवेश और व्यंग्य के स्वरूप का है।

---

१. अभी और कुछ।
२. जो बँध नहीं सका।
३. ओ अप्रस्तुत मन, पृष्ठ १२२।

अंधेरे में कहीं आग लग गयी, कहीं गोली चल गयी की बात है और **पट कथा** में चुनाव और मतदान की। पहली में परिवेश आज़ादी के बाद का है और दूसरी में आम चुनाव के बाद का। पहली में व्यंग्य का स्वरूप त्रासदीय है और दूसरी में कामदीय और आयरनीगत। मुक्तिबोध की कविता में सब कुछ फेंटेसी में होता और धूमिल की कविता में सब कुछ नींद में होता है जो एक तरह की फेंटेसी है। पट-कथा में व्यंग्य का तीखा बोध इन पंक्तियों में उभरता है—

समाजवाद
उनकी जबान पर अपनी सुरक्षा का
एक आधुनिक मुहावरा है
मगर मैं जानता हूँ कि मेरे देश का समाज
माल गोदाम में लटकती हुई
उन बालटियों की तरह है जिन पर आग लिखा है
और उन में बालू और पानी भरा है।[1]

इस कविता का समूचा रचना-विधान व्यंग्यात्मक और आयरनीगत है। भारतीय संसद् के बारे में यह कहा गया है—

अपने यहाँ संसद्—
तेली की वह घानी है
जिसमें आधा तेल और आधा पानी है।[2]

और जनतन्त्र कैसा है?

ऐसा जनतन्त्र है जिसमें
जिन्दा रहने के लिए
घोड़े और घास को
एक जैसी छूट है

अशोक वाजपेयी ने धूमिल की कविता में शहराती बौद्धिकता और देहाती संवेदना में रचनात्मक तनाव को सही तौर पर पहचाना है। बौद्धिकता व्यंग्य और आयरनी के मूल में है और संवेदना के चयन में है।

मोचीराम कविता में इसे आँका जा सकता है—

बाबू जी। सच कहूँ—मेरे निगाह में
न कोई छोटा है
न कोई बड़ा है
मेरे लिए, हर आदमी एक जोड़ी जूता है

---

१. संसद से सड़क तक, पृष्ठ १३९।
२. वही, पृष्ठ १४०।

जो मेरे सामने
मरम्मत के लिए खड़ा है
और बाबू जी। असल बात तो यह है कि ज़िन्दा रहने के पीछे
अगर सही तर्क नहीं है
तो रामनामी बेचकर या रण्डियों की
दलाली करके रोज़ी कमाने में
कोई फर्क नहीं है।[1]

इस तरह **मोचीराम** के माध्यम से कवि नैतिक असंगति को उजागर करते हैं जबकि **पटकथा** में राजनीतिक असंगति को उभारा गया है और दोनों में व्यंग्य और आयरनी का सहारा लिया गया है। व्यंग्य के सांस्कृतिक स्वरूप को **कविता** और **जनतन्त्र के सूर्योदय में** नामक कविताओं में आँका जा सकता है। कविता क्या है—

अब उसे मालूम है कि कविता
घेराव में
किसी बौखलाये हुए आदमी का
संक्षिप्त एकालाप है।[2]

मातृभाषा का हाल यह है—

यह जानकर कि तुम्हारी मातृभाषा
उस महरी की तरह है, जो
महाजन के साथ रात भर
सोने के लिए
एक साड़ी पर राज़ी है।[3]

इस तरह शहराती बौद्धिकता को व्यंग्य के बोध में और देहाती संवेदना **तेल की घानी, रामनामी महरी और महाजन** के बिम्बों में उजागर होती है और दोनों में तनाव कविता के सृजन के मूल में है। **मोचीराम** कविता की अन्तिम तान मोची और शायर में अन्तर को पाट कर व्यंग्य के धरातल को उठाती है—

ओ असलियत और अनुभव के बीच
खून के किसी कमज़ात मौके पर कायर है
वह बड़ी आसानी से कह सकता है
कि यार तू मोची नहीं शायर है।[4]

---

१. संसद से सड़क तक।
२-३. वही।
४. वही।

कुमार विकल की कविताओं में व्यंग्य का अन्दाज़ इसी तरह का है, राजनीतिक है जिसकी शुरुआत निराला के व्यंग्य काव्य से होती है। रघुवीर सहाय और धूमिल की रचनाओं में इसे आँका गया है और कुमार विकल इस विरासत को सम्पन्न बनाते हैं—

मेरे परिचितों की सूची में हो रही है
तरक्कीपसन्द लोगों की भरमार
जिनकी एक जेब में अमरीकी वीज़ा
दूसरी में माओ की लाल किताब।[1]

कुमार विकल ने व्यंग्य के माध्यम से कभी विसंगति के बोध को उजागर किया है तो कभी राजनीतिक चेतना को। समकालीन परिवेश पर इनकी हाल की कविता **नया पाठ** व्यंग्य की तीखी धार की गवाही देती है—

क कबूतर, **ख** खरगोश, **ग** से गांधी
लेकिन बच्चो कौन-सा गांधी
मोहनदास करमचन्द गांधी
बापू गांधी
राष्ट्रपिता महात्मा गांधी
(बच्चों का समवेत स्वर)
ग से गांधी
इ से गांधी
स से गांधी

इ और **स** से गांधी बनाने और नया पाठ देने में कुमार विकल समकालीन राजनीतिक परिवेश पर व्यंग्य के माध्यम से तीखी नज़र डालते हैं और हिन्दी कविता में व्यंग्य की परम्परा को अन्य आधुनिक कवियों की तरह नया आयाम देते हैं जिसकी शुरुआत सिद्ध-काव्य से होती है, जिसका लगभग लोप द्विवेदी काल और छायावादी कविता में हो जाता है। इसके बाद नयी कविता में इसका विकास होने लगता है, इसमें निखार आने लगता है, लेकिन व्यंगात्मक कविता को **किंचित कविता** की पदवी देना बेहतर समझा गया। डॉ० जगदीश गुप्त के संपादन में **नयी कविता** के कुछ अंकों में इसकी गवाही मिल जाती है—व्यंगात्मक कविता को पूरी कविता का अधिकार देना संगत नहीं जान पड़ा, थोड़ी कविता का नाम देना बेहतर समझा गया।

२. कविता की तरह नाटक या नाट्य भी पुरानी विधा है जिसमें व्यंग्य-हास्य-आयरनी के स्वरूप और विकास को आँका जा सकता है। इसमें पात्र के रूप में विदूषक की परम्परा है और विधा के रूप में **प्रहसन** आदि की परम्पराएँ हैं जो रूपक की विधाएँ हैं। विदूषक की

---

१. आलोचना अंक १३।

परम्परा में व्यंग्य का पुट इतना ही है जितना उपहास का है और इसका स्वरूप स्थूल और रूढ़िगत है, विनोद के उद्देश्य को पूरा करने के लिए है, ताकि नायक आदि का मनोरंजन हो सके। अगर भारतेन्दु के काल पर सरसरी नज़र डाली जाए तो प्रहसन का स्वरूप सोद्देश्य है। इसमें व्यंग्य और हास्य कभी राजनीतिक उद्देश्य को पूरा करने के लिए है तो कभी सामाजिक कभी नैतिक तो कभी धार्मिक। भारतेन्दु के प्रहसन **अंधेर नगरी** में राजनीतिक कुशासन पर गहरी चोट है। इस नगरी में बकरी की जगह मनुष्य को फाँसी देना, विदेशी राज्य पर व्यंग्य कसा गया है। इस नगरी के अधिकारी रिश्वत लेते हैं, महाजनों की पूँजी हज़म करते हैं इसमें छल-कपट करने वाले तो सुखी हैं, लेकिन भलमानसों के लिए जीना कठिन है, बहू-बेटियों और वेश्याओं में अन्तर नहीं है। यह और बात है कि व्यंग्य के संवादों में शालीनता की कमी है और छिछलापन अधिक है। इसी तरह बालकृष्ण भट्ट के नाटक **वेणुसंहार** में पौराणिकता के माध्यम से विदेशी शासन पर व्यंग्य किया गया है, इसकी दमन नीति पर चोट की गयी है जो पौराणिकता के आवरण में कमज़ोर हो जाती है। भारतेन्दु के **वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति** में घूसखोरी पर चोट है जो कचहरियों में चलती है और यह सीधी चोट है। **भारत दुर्दशा** में विदेशी शासन की निरंकुशता पर व्यंग्य कसा गया है। इस तरह व्यंग्य का उपयोग समकालीन विषमताओं को दूर करने के लिए किया गया है जो विदेशी शासन व्यवस्था की देन है। इसका स्वरूप **काका-छाप** का है जिसमें हास्य का पुट है। इस तरह नाटक की विधा में हास्य-व्यंग्य के माध्यम से विकृतियों और कुरीतियों पर चोट कभी सीधी है तो कभी छिप कर, लेकिन इसके स्वरूप में परिष्कार और निखार का अभाव है जो बौद्धिक विकास की देन होता है। भारतीय संस्कृति इतनी गंभीर और भारी है कि व्यंग्य इसके नीचे दब कर रह जाता है जिसकी साक्षी महावीर प्रसाद द्विवेदी के काल में मिल जाती है जब इस संस्कृति का पुनरुत्थान होने लगता है और हास्य-व्यंग्य का लगभग लोप होने लगता है।

इसके बाद आधुनिक युग में नाटक में व्यंग्य का उपयोग फिर होने लगता है, लेकिन आधुनिक युग वास्तव में भारतेन्दु काल से मानना अधिक संगत है। भुवनेश्वर प्रसाद के लघु नाटकों में व्यंग्य का उपहासात्मक स्वरूप निराला के **कुकुरमुत्ता** की तरह है। वह चाहे **ऊसर** हो या **ताँबे के कीड़े**। यह सही है कि निराला और भुवनेश्वर के व्यक्तित्त्व में बिखराव आ गया था और इसकी परिणति एक जैसी थी। विपिन कुमार ने भुवनेश्वर के इन दो नाटकों में इसका विवेचन किया है। इन्होंने निराला की तरह प्रसाद की नाट्य-भाषा की कुलीनता और शालीनत को तोड़ने की कोशिश की है। इनके पहले के नाटकों में **ऊसर** (१९३८) अपने नाम से ही जीवन के बंजरपन का संकेत दे जाता है। गृहस्वामी और ट्यूटर की आपसी बातचीत में बेतुकापन है जो विसंगति के बोध को उजागर करता है। इसमें जिस भाषा का उपयोग किया गया है और जिस तरह किया गया है.वह खास तेवर और हरकत को लिए हुए है जिसे विसंगत नाटक में आँका जा सकता है—

गृहस्वामी : (कुछ समझ में नहीं आता) तुम बाइसिकल पर कहाँ गए थे ?

ट्यूटर : मैं साइकिल पर कहीं नहीं गया—मैं गया ही नहीं ।

इस तरह साइकिल की बात नाटक की वस्तु से सीधा सम्बन्ध नहीं रखती, असंगत और असम्बद्ध जान पड़ती है, लेकिन यह उस वास्तव को उजागर करती है जो विसंगत है। यह स्थिति को उपहास में बदल देती है। **ऊसर** में बेतुकी बातों का सिलसिला विसंगति की तुक को उजागर करता है। इस नाटक का अन्त ट्यूटर युवक को पिस्टर सिवल की इस राय से परिचित करवाता है कि आने वाली पीढ़ी, वह चाहे बिल्ली की हो या साँप की, इस पीढ़ी से बेहतर होगी। उसमें दोहरा व्यंग्य है—एक युवक की पीढ़ी पर है, दूसरा अपनी पीढ़ी पर जो टालना जानती है। **ताँबे के कीड़े** की परख करते हुए विपिन कुमार का मत है कि आज की त्रासदी अजनबीपन में, बेतुकेपन में, विकृत में, भांडपन में खुलती है। इसमें हास्य-व्यंग्य और उछलकूद त्रासदी या कामदी की रचना के लिए नहीं है, विसंगत की रचना के लिए है। विसंगति के नाटककार सम्बन्धों के तनाव या वैयक्तिक तनाव या व्यक्ति और परिवेश में तनाव पर बल देने के बजाय कथन पर बल देते हैं। इस तरह वे व्यंग्यकार के बजाय आरयनीकार होने की गवाही देने लगते हैं। भुवनेश्वर के नाटक में आयरनी का पुट इतना नहीं है जितना व्यंग्य और उपहास का। अनाउंसर के कथनों में इसकी झलक बार-बार मिलती है। तांबे के कीड़े में ट्यूटर की जगह झुनझुनेवाली ले लेती है जो झुनझुना हिला कर पाठक या सामाजिक को विसंगति के बोध को पचाने के लिए तैयार करना चाहती है। इस नाटक का समस्त संसार उलट-पुलट है, बेमानी और बेमतलब है। इस तरह उपहास और व्यंग्य का स्वरूप भारतेन्दु काल के उपहास-व्यंग्य से भिन्न है। उद्देश्यहीनता को उजागर करना इसका उद्देश्य है। भुवनेश्वर के नाटक **ताँबे के कीड़े** में जब सोशिलिज्म-बोशिलिज्म की बात की गयी है तो यह इस चिन्तन का परिणाम है—'धारा के साथ बहने में या इसका विरोध करने में अन्तर नहीं है।' वह शायद हिन्दी के पहले नाटककार हैं जो विसंगति के बोध को उपहास और व्यंग्य के माध्यम से उजागर करते हैं और इनके नये आयामों को खोलते हैं।

उपेन्द्रनाथ अश्क, जो नाटक की दुनिया में उपहास और व्यंग्य के मालिक हैं, भुवनेश्वर की तरह इलाहाबादी हैं, अकबर इलाहाबादी की तरह इस परम्परा को नया मोड़ देते हैं। इनके छोटे-बड़े नाटकों में हास्य और व्यंग्य का स्वरूप सामाजिक और राजनीतिक है, छोटे-बड़े नाटक इसलिए कि छोटा नाटक कभी बड़ा हो जाता है और बड़ा छोटे का रूप धारण कर लेता है। इनके अधिकांश नाटकों में व्यंग्य का पुट है, लेकिन इनके प्रहसनों का समूचा रचना-विधान व्यंग्यात्मक है। इनके व्यंग्य के बारे में यह दावा किया गया है कि इसका स्वरूप भोंडा और फूहड़ नहीं है, यह सच्चा और सेहतमन्द है। इस तरह वह भारतेन्दु की परम्परा को आगे बढ़ाते हैं। इनके प्रहसनों में, जो पुराने रूपक के इस भेद से भिन्न हैं, सामाजिक वास्तव को आधार बनाया गया है। इनमें कविता का पुट नहीं दिया गया है। उदाहरण के लिए **परदा उठाओ : परदा गिराओ** के संकलन के एकांकियों में सामाजिक वास्तव में उन विषमताओं पर चोटें की गयी हैं जिनका सामना आसपास के जीवन में करना पड़ता है। **तौलिये** में एक अभिजात नारी की सनक को हास्य-व्यंग्य के माध्यम से उजागर किया गया है जो घर में तीन तौलिये रखती है—शेव करने, नहाने और हाथ-मुँह पोंछने के लिए अलग-अलग और आशा रखती है कि एक का तौलिया दूसरा न ले ले। उसका पति लापरवाह है और हर बार भूल जाता है। इस

छोटी-सी बात को आधार बना कर अभिजात संस्कारों पर मीठी चुटकियाँ ली गयी हैं जो गुदगुदाने वाली हैं। **पैंतरे** का पूरा रचना-विधान व्यंग्यात्मक है। इसमें फिल्मी दुनिया को आधार बनाया गया है जिसमें एक तो मकान की समस्या को उठाया गया है और दूसरे इसके जीवन के असली स्वरूप को। हर लेखक यह दावा करता आया है कि वह असली की बात करता है और असली-नकली में भेद करना कठिन हो जाता है। अश्क की अपनी ज़बानी महानगर में मकान की समस्या को लेकर इन्होंने एक कहानी **तकल्लुफ** नाम से लिखी थी जिसे बाद में **पैंतरे** नामक रेडियो रूपक में बदल दिया था। इस तरह वह एक ही समस्या या वस्तु को विभिन्न विधाओं में ढालने की कला जानते हैं, लेकिन हास्य-व्यंग्य का दामन नहीं छोड़ते। **तौलिये** की मधु और **अंजोदीदी** की अंजो में समानता है। इनके चरित्रों में बँधे जीवन को जीने की सनक है जिसका मखौल उड़ाया गया है। **जोंक** में अनचाहे मेहमान का गुदगुदाने वाला चित्रण है। अश्क के नाट्य-साहित्य में व्यंग्य का गहरा पुट नहीं है, विनोद का सतही पुट है जो गुदगुदाता अधिक है, चोट कम करता है। इसलिए इसका स्वरूप निजी है जो भारतेन्दु काल के व्यंग्य से भिन्न है। सत्येन्द्र शरत ने अश्क के अन्य नाटकों और **छटा बेटा** में हास्य-व्यंग्य की दृष्टि से भारी अन्तर को आँका है। इस नाटक में रंग-मंच के निदेशन की सूचनाओं में मुस्कराहट पैदा करने वाले संकेत हैं जो संवादों तक पहुँचते-पहुँचते हास्य का रूप धारण कर लेते हैं।

हिन्दी के काव्य नाटकों के बारे में मतभेद हो सकता है कि कला-कृतियाँ हैं या नहीं। डॉ० विपिन कुमार की कसौटी पर ये खरे न उतरते हों, लेकिन इसमें संदेह नहीं है कि धर्मवीर भारती के **अंधा युग** में पहरेदारों की बातचीत में व्यंग्य का गहरा पुट है। यह विसंगति के बोध को कामदीय स्तर पर उजागर करता है। इसी तरह कौरव नगरी की स्थिति व्यंग्यात्मक है जो त्रासदीय स्तर पर है। यह आयरनीगत होने की भी गवाही देता है। दुष्यन्त कुमार के **एक कंठ विषपायी** में सर्वहत के कथन में इसके संकेत मिल जाते हैं—

> मैं सुनता हूँ
> मैं सब कुछ सुनता हूँ
> सुनता ही रहता हूँ
> देख नहीं सकता हूँ
> और सोचना मेरा काम नहीं है
> मैं तो शासक नहीं
> प्रजा हूँ
> मात्र भृत्य हूँ
> इसीलिए केवल सुनना मेरा स्वभाव है।

इस तरह सर्वहत पर **अंधा युग** के दो प्रहरियों के संवादों की गहरी छाप है जिसका स्वरूप आयरनीगत है। मोहन राकेश का **लहरों के राजहंस** अपने अन्तिम रूप में काव्यात्मक होने की गवाही तो देने लगता है, लेकिन इसमें व्यंग्य का अभाव है इनके **आधे-अधूरे** में व्यंग्य का पुट गहराने लगता है जिसे संवादों में आँका जा सकता है जो पात्रों के आपसी तनाव का परिणाम

है। इसमें सावित्री का नाम भी व्यंग्यात्मक है। वह एक मशीन है और आदमी रबर का एक टुकड़ा है जिसे वह सी नहीं सकती। पुरुष और स्त्री में जो संवाद चलता है वह सवाल गंदम और जवाब चीनी के अन्दाज़ को लिये हुए है और इसमें विसंगति का बोध होने लगता है। समकालीन नाटक में व्यंग्य का उपयोग विसंगति के बोध को उजागर करने के लिए किया गया है।

विपिन कुमार के नाट्य-साहित्य में, विशेष रूप से **तीन अपाहिज** और **लोटन** में, व्यंग्य के माध्यम से इसी बोध की गवाही मिलती है। विसंगत नाटक का पहला काम व्यंग्य से उस समाज को काटना है जो ओछा और खोटा है। इसका दूसरा काम इन्सान को उसकी सामाजिक स्थिति से अलगाना है और उससे चयन करवाना है ताकि वह बुनियादी स्थितियों का सामना कर सके। मानव की स्थिति या मानवीय स्थिति में विसंगति का विरोध अस्तित्ववादी बोध को लिए हुए है जिसके दो पहलू हैं—एक आस्था को उजागर करता है (अंधा युग) और दूसरा आस्थाहीन और उद्देश्यहीनता को। इसका विरोध व्यंग्य के आधार पर भी होता रहा है, लेकिन अस्तित्ववादी विरोध **आयरनी** को आधार बनाता है। इस तरह विसंगत नाटक में नायक अनायक हो गया है—आवारा अपाहिज, अपराधी, बूढ़ा, कैदी। विपिन कुमार के नाट्य में यह अपाहिज और आवारा है। **तीन अपाहिज** की शुरुआत तीन अपाहिजों से होती है—लल्लू, खल्लू और गल्लू, मतलब क, ख, ग से जो एक तेल के लैम्प के खम्भे के नीचे **तीन तरह बैठे** हैं। इनके एक-एक शब्द, एक-एक अन्दाज़ से, जो व्यंग्यात्मक या आयरनीगत है, विसंगति का बोध होता है। भविष्यवाणी की बात को लेकर व्यंग्य आकाशवाणी पर कसा गया है, आज़ाद होने की बात का मज़ाक उड़ाया नहीं गया, यह उड़ जाता है। यह उसी तरह जिस तरह मौनपट में चार्ली चेपलिन के **गरेट डिक्टेटर** और **मार्डन टाइम्स** में एक-एक हरकत से यह उड़ता रहा है। अपाहिज किसी बात का मज़ाक उड़ाते नहीं हैं, वह शब्दों के हेरफेर से खुद पैदा हो जाता है। इस हेरफेर में न तो शब्दों की चुस्ती है और न ही चालाकी जैसी अश्क के नाटक में है, इसमें नाट्यात्मक शब्द का चयन और इसकी हरकत है जिसका निरूपण विपिन कुमार ने अपने निबन्धों में किया है और जिसकी खोज मोहन राकेश करते-करते चल बसे। विसंगति पर बहस नहीं होती। विसंगति आयरनी के माध्यम से पैदा हो जाती है या पेश हो जाती है। अन्तिम तीन-तीन अपाहिजों की स्थिति पर टूटती है। देश की आज़ादी, आकाशवाणी के झूठ, काम और आराम, देश की एकता आदि को लेकर विसंगत **स्थिति** का बोध होता है और हवा चलने, जगह बदलने आदि को लेकर विसंगत **नियति** का। इस तरह यह नाटक कहीं-कहीं **गोदो का इन्तजार** की याद दिलाने लगता है। विपिन कुमार का **लोटन** मानव और मशीन के सम्बन्ध की समस्या को व्यंग्य के माध्यम से गहराता है। इसमें डाकगाड़ी जीवन का संकेत देती है या मशीन-युग में एक मिथक बन जाती है जो मानव की स्थिति-नियति को उजागर करती है। इसमें पुरानी कड़ी को लेकर कभी पुरातनता पर मीठी चुटकी है, कभी व्यवस्था पर व्यंग्य है, कभी गंभीरता पर तो कभी प्रेम पर चोट है। मालती, किशोर और बड़े बाबू एक डाकघर में काम करते हैं जहाँ लोटन, जो नाटक के मरकज़ में है, **डाकगाड़ी** पकड़ने के लिए डाकखाने में टपक पड़ता है। उसके बारे में हर तरह की अटकलें लगनी शुरू हो जाती हैं—वह जासूस है, बदमाश है, लेकिन उसे अज्ञान का वरदान मिला हुआ है। इस नाटक में राजनीति पर भी

व्यंग्य बाण छोड़ा गया है। बड़े बाबू का कहना है कि महानगर में सब काम ठीक चल रहा है अगर आँखें बन्द कर लीजिए। जब-जब आफ़त आती है तब-तब लाइन पड़ती है। रेल बेचारी को क्यों कोसते हैं। वह भी आखिर रेल ही है, कोई आदमी तो नहीं जो सब सहती चली जाए। इस तरह के कथनों में व्यंग्य की तीखी धार आसपास को या समकालीन परिवेश को काटती चली जाती है। भारतेन्दु काल में भी रेल को लेकर व्यंग्य कसे गए थे, लेकिन आज व्यंग्य का तेवर बदला हुआ है। इसके चेहरे पर निखार आ गया है। अन्तिम तान रेलगाड़ी के आने पर तोड़ी गयी है। किशोर का दावा है कि वह डाकगाड़ी पटरी पर दौड़ायेगा, उलट-पुलट कर ठीक कर देगा और रेल मालती समेत किशोर को लपेट में लेकर चली जाती है। लेखकीय दावा यह है कि पटरी पर चलती गाड़ी किसी के जीवन का संकेत देती है। सृष्टि का जहाँ फिर से आरंभ किया जा सकता है, वही लोटन है। इसलिए शायद अन्त में लोटन के चेहरे पर सफलता की मुस्कान है और इस मुस्कान में आयरनी का बोध है। यह बोध पराभौतिक यातना की स्थिति पैदा करता है। सत्यव्रत सिन्हा ने **नवरंग** में जिन नौ छोटे नाटकों का संकलन किया है इनमें व्यंग्य का स्वरूप प्रायः आयरनीगत है—लक्ष्मीकान्त वर्मा का **अपना-अपना जूता,** शांति मेहरोत्रा का **एक और दिन,** विपिन कुमार का **एक स्थिति** और शंभूनाथ सिंह का **दीवार की वापसी**। इनमें व्यंग्य का परिष्कृत स्वरूप उभरता है।

ज्ञानदेव अग्निहोत्री के नाटक **शुतुरमुर्ग** (१९६८) के बारे में अनेक मत हो सकते हैं और एक-दूसरे के विरोधी भी हो सकते हैं, लेकिन इस समय सवाल इसमें व्यंग्य का है। अगर इसमें व्यंग्य है तो वह कहाँ और कैसा है? इस नाटक की संरचना में व्यंग्य-बोध है। यदि इस दृष्टि से इसे नहीं आँका जाता और गंभीरता के आधार पर इसकी पहचान की जाती है तो राजा वास्तव में सो रहा है। वह बाहर से सो रहा है, लेकिन भीतर से जाग रहा है। उसका हर कथन एक **यमले** जाट की तरह है जो भीतर से **खचरा** होता है। आज से बीस साल पहले राजा ने शुतुरमुर्ग की प्रतिमा स्थापित करने की सोची थी और बीस साल का संकेत देश की आज़ादी से है। इसकी बीसवीं सालगिरह मनाने के लिए कुछ लोग राजा का अभिनन्दन करना चाहते हैं, लेकिन वह कृतिकार का अभिनन्दन नहीं, कृति का करवाना चाहता है। क्या इस व्यंग्य में राजा का उद्घाटन नहीं हो रहा है? राजा टालना जानता है और इसलिए वह कभी तुक की बातें करता तो कभी बेतुकी जिनमें आयरनी उभरती है और कभी-कभी व्यंग्य भी। इस तरह व्यंग्य-आयरनी का उद्देश्य राजनीतिक है जो नाटक की संरचना में रचा गया है। विरोधीलाल व्यवस्था का अंग बन कर सुबोधीलाल बन जाता है और जनता का नेता मामूलीराम बन जाता है। इस तरह न केवल इन नामों में व्यंग्य-बोध है, स्थिति में भी है जो राजनीतिक है। व्यंग्य के माध्यम से आधुनिकता का बोध उजागर होता है और यह नाटक के अथ से इति तक चलता है। इस नाटक को यदि राजनीतिक व्यंग्य-रचना का नाम दिया जाये तो असंगत न होगा। कभी-कभी व्यंग्य की धार कुण्ठित होने लगती है जब समकालीनता नाटक पर हावी होने लगती है, जब चीन और पाकिस्तान दो-दो दुश्मनों की तरफ इशारा किया गया है (पृ० ३८, ३९)। एक ओर अकाल है और दूसरी ओर विशाल भोज है। यह स्थिति आयरनीगत है और व्यंग्य भीषण रूप धारण करता है (पृ० ५५)। इसके कसाव को कम करने

के लिए उपहास से काम लिया गया है। इसे नाटक के अन्त में आँका जा सकता है जब राजा मुड़ कर कहता है कि शुतुरमुर्ग की स्थापना उसने कभी नहीं चाही। यह तो सत्ता को सुरक्षित रखने की एक नीति थी—अब तो समझ गए होंगे कि हम एक **राजा** हैं और इस नाटक के **सूत्र-धार** भी।

सुरेन्द्र वर्मा के नाटक **द्रौपदी** (१९७०) में समकालीन द्रौपदी को उजागर करने में व्यंग्य की गवाही मिल जाती है। आज की स्थिति में सुरेखा को अपने पति के चार और पहलुओं को झेलना पड़ता है। उसने चार रंगों के नकाब पहन रखे हैं—लाल, पीला, काला आदि जिनके मनोवैज्ञानिक संकेत हैं। काले नकाब वाला मनमोहन के लाल नकाब की ज़रूरत को समझता है—अगर अंजना के पहले रंजना थी तो अंजना के बाद वंदना होगी—एक नयी किताब पढ़ने को, एक नया जिस्म जानने को। सुरेखा के अनुरोध पर मनमोहन नकाब वालों को न तो नकारता है और न ही फटकारता है। घर में उसका दफ्तर वाला चेहरा उभरता है और दफ्तर में उसका और चेहरा। वह अलग-अलग संसारों में विभाजित है। इस विभाजन से वह विसंगत होने की गवाही देने लगता है, वेतुकी बातें करने लगता है, एक संसार को दूसरे से जोड़ नहीं पाता। उसकी जवान लड़की और उसके जवान लड़के का अपना-अपना संसार है, अपना-अपना जीवन है। इस परिवार के जीवन को, जो बीच के तबके का है, मीठी चुटकियाँ ले-ले कर उभारा गया है और ये रोमाण्टिक बोध पर हैं। अलग-अलग रंगों वाले नकाब मनमोहन के व्यक्ति के अलग खाने हैं। इन रंगों का इस्तेमाल मानस के चेतन, उपचेतन या अचेतन को उजागर करने के लिए है—इड, ईगो और सुपर इगो को। मनमोहन और काले नकाब वाले के संवाद में व्यंग्य की धार तीखी होने लगती है। इस तरह व्यंग्य का उपयोग कभी मीठी चुटकियाँ लेने के लिए किया गया है जो कभी रोमाण्टिक बोध को काटती हैं और कभी मनमोहन के व्यक्तित्व को नंगा करती हैं। मनमोहन खुद को अपने से, अपने परिवेश से कटा हुआ बताता है, लेकिन काला नकाब उसे कार के लाइसेंस से, बैंक की पासबुक से, लाकर की चाभी से, बीमा की पालिसी से, मकान के कागज़ात से जुड़ा हुआ बताता है। सच्चे रिश्ते यही हैं जो कभी नहीं बदलते, कभी बासी नहीं होते। इस तरह मानवीय रिश्तों के लोप होने पर व्यंग्य कसा गया है। आज की विसंगति को उजागर करने के लिए व्यंग्य से काम लेना नाटकों में लाज़मी बनता जा रहा है।

लक्ष्मीनारायण लाल ने अपने अधिकांश नाटकों में उपहास, व्यंग्य और आयरनी से समकालीन वास्तव की असंगतियों को उजागर करने का यत्न किया है—**सूर्यमुख** (१९६८), **मिस्टर अभिमन्यु** (१९७१), **कर्फ़्यू** (१९७२), **व्यक्तिगत** (१९७५), **एक सत्य हरिश्चन्द्र** (१९७६) आदि। इनके नाटकों में व्यंग्य के स्वरूप को पहचानने-परखने के लिए सब नाट्य-कृतियों को लेना आवश्यक नहीं जान पड़ता। इन्होंने समकालीन वास्तव को अभिव्यक्ति देने के लिए भारती की तरह पौराणिक कथाओं को भी आधार बनाया है। इस तरह मिथक के माध्यम से विगत को आगत से जोड़ा गया है और कभी-कभी अनागत का संकेत भी दिया गया है। इस प्रक्रिया में विसंगत उपहास-व्यंग्य के द्वारा उभरता है, लेकिन इसमें इतना पैनापन या तीखापन नहीं है। लाल का **सूर्यमुख** भारती के **अंधायुग** की अनुगूँज है। भारती और लाल की

कृतियों में अन्तर केवल पद्य और गद्य का है, वरना एक में कौरव नगरी है दूसरे में द्वारिका नगरी है और दोनों उजड़ चुकी हैं, नरक बन चुकी हैं। द्वारिका डूब रही है, काल का सागर इसे लील रहा है। पहले में संजय द्रष्टा के रूप में तो दूसरे में व्यास-पुत्र इतिहासकार के रूप में हैं, एक में गांधारी है, दूसरे में रुक्मिणी है, एक में प्रहरी हैं तो दूसरे में दरबान हैं। इसी तरह दोनों में भिखारी हैं। इस तरह **अंधायुग** और **सूर्यमुख** में न केवल नगरी के परिवेश की समानता है, युद्ध की भी समानता है, पात्रों की भी समानता है। डॉ० लाल का **सूर्यमुख** डॉ० भारती के **अंधायुग** का परिशिष्ट होने की गवाही देता है, और परिशिष्ट में व्यंग्य की धार कुण्ठित होने की साक्षी देती है। यह भी संयोग की बात है कि व्यंग्य पहरेदारों की तरह दरबानों के माध्यम से उजागर होता है और उपहास का बोध चूहों के फैल जाने, सोने-चाँदी में साँपों के पैदा हो जाने, गाय के पेट से गधे, हथिनी के पेट से सूअर के पैदा होने में वास्तव को उलट-पुलट और विसंगत बनाता है। **मिस्टर अभिमन्यु** में उस आदमी का चेहरा नहीं है जो चक्रव्यूह से बाहर निकलना चाहता था और इसके लिए वह लड़ा था और मारा गया था, इसमें उस आदमी का चेहरा है जो बाहर निकलना नहीं चाहता और जिसका दम सरकारी व्यवस्था में घुटता रहता है। इसलिए वह अभिमन्यु न होकर मिस्टर अभिमन्यु है। इस नाटक में नायक को ही विडम्बना के धरातल पर रचा गया है। **कर्फ्यू** में व्यंग्य का उपयोग कहीं-कहीं संवादों में सीमित होकर रह जाता है, लेकिन **व्यक्तिगत** में फिर यह उभरने लगता है। इस नाटक के बारे में एस० के० रैना का मत है, जिनके निदेशन में इसका मंचन हुआ है, कि इसमें मैं एक बहुयामी बिम्ब है जो केवल हड़पना जानता है और वह इसकी पत्नी है जिसके विपरीत मैं खड़ा है। इनकी आपसी बातचीत में व्यंग्य का बोध होता है जो शाब्दिक है। इन दोनों के बार-बार टहलने में स्थिति का व्यंग्य है। व्यंग्य का स्वरूप भी वैयक्तिक है या व्यक्तिगत जीवन के धरातल पर है। एक **सत्य हरिश्चन्द्र** में, जिसके मंचन का भी निदेशन एस० के० रैना ने किया है, व्यंग्य का उद्देश्य राजनीतिक है जो गायन या संगीत में उभरता है। कुछ गानों को भारतेन्दु के नाटक सत्य हरिश्चन्द्र से लिया गया है और कुछ की रचना नौटंकी की शैली में की गई है जिससे इनका स्वरूप विडम्बनात्मक बन जाता है। यह इसलिए कि नाटककार ने सत्य-नारायण की कथावस्तु को आधुनिकता के साँचे में ढालना चाहा है। रमेश बक्षी के बचकाने नाटक **वामाचार** (१९७७) में व्यंग्य का स्वरूप भी बचकाना है, रटा-रटाया और घिसा-पिटा है। इसमें दो पात्रों की हरकतें **अंधायुग** के पहरेदारों की तरह मंजी हुई नहीं है। इन पात्रों के नाम निगेटिव और पाजिटिव हैं और यह दावा किया गया है कि इनकी भाषा निगेटिव के रूप में बेबाक ज़बान है तो पाजिटिव के रूप में सफेदपोश बदनामी। इसके बारे में मतभेद हो सकता है, लेकिन जहाँ तक व्यंग्य का सवाल है यह तान्त्रिक साधना की शब्दावली के उपयोग से निकलता है। आज के परिवेश में इस शब्दावली का इस्तेमाल व्यंग्य के रूप में किया गया है। पाजिटिव आसन कर रहा है और सारी दुनिया उलटबासी हो जाती है। उसका कथन है—जीना क्या है? प्राणायाम ही है। चुनाव लड़ना भी एक तरह की साधना है। संभोग क्या है? समाधि की ही एक स्थिति है। किसी लड़की से प्रेम करना उपासना ही तो है। (पृ० १५) इस तरह तान्त्रिक साधना का मज़ाक उड़ाया है, पुराने वामाचार और आज के

वामाचार में अन्तर को उजागर किया गया है। इसी तरह नौकरी पाने के लिए इंटरव्यू में व्यंग्य का पुट है। बात-बात में चुटकलों का उपयोग व्यंग्य को बचकाना बनाता है और इसका उद्देश्य समकालीन वास्तव की असंगतियों को उजागर करना है। समकालीन नाटक में व्यंग्य का स्वरूप सुधारात्मक नहीं है, इसका विकास आयरनी की दिशा में हुआ है जो बौद्धिक विकास का परिणाम है। इसकी गवाही साहित्य की हर विधा में मिल जाती है और जैसा कि पहले कहा गया है व्यंग्य स्वयं विधा नहीं है। सर्वेश्वर के नाटक बकरी के बिना इस विधान में व्यंग्य की पहचान-परख अधूरी रह जाएगी। इसमें बकरी के माध्यम से व्यवस्था पर कड़ा व्यंग्य कसा गया है। इसके गानों में यह अधिक गहरे और तीखे रूप में उभरता है—विशेषरूप से राष्ट्रीय गान है जो पुलिस के डंडे को आधार बनाता है और देर तक जिसकी ठेस सामाजिक के मन को सालती रहती है।

३. अगर कविता और नाटक पुरानी साहित्यिक विधाएँ हैं तो उपन्यास-कहानी-निबन्ध नयी विधाएँ हैं जिनमें व्यंग्य के स्वरूप-विकास को पहचानना-परखना शेष है। हिन्दी उपन्यास में अगर व्यंग्य की शुरुआत प्रेमचन्द के **गोदान** से की जाए तो यह असंगत न होगा। इसका विस्तृत विवेचन मैंने एक त्रासदीय व्यंग्य-रचना के रूप में किया है। इस उपन्यास के अथ से इति तक (इसकी इति शायद है भी या नहीं) की रचना-प्रक्रिया के मूल में व्यंग्य की धारा एक अन्तःसलिला की तरह बहती लगती है। यह व्यंग्य की धारा जो इसके तल में है या इसकी तह में है, कभी उक्ति के व्यंग्य में तो कभी स्थिति के व्यंग्य में, कभी रेखा-चित्र के व्यंग्य में तो कभी पूरे चरित्र के व्यंग्य में उभर कर सामने आती है। इसमें कभी तो व्यंग्य के छींटे कसे गए हैं तो कभी व्यंग्य के बाण छोड़े गए हैं जो पाठक की संवेदना को देर तक सालते रहते हैं। इनकी अभिव्यक्ति कभी उपहास के स्तर पर है तो कभी कामदीय स्तर पर जो मीठी चुटकी लेने की तरह है और अन्तिम व्यंग्य त्रासदीय स्तर पर है, जो इस पर हावी होकर इसे एक **त्रासदीय रचना** में ढाल देता है। इस तरह इसका अधिकांश सृजन व्यंग्य के स्तर पर है, जिसकी गवाही कदम-कदम पर मिलती है, जिससे **गोदान** के अन्दाज़ और मिज़ाज़ का पता चल जाता है, इसकी पहचान गहराने लगती है।[1] इसमें व्यंग्य का संकेत पहले ही सफ़े पर होरी राम या होरी और उसकी पत्नी धनिया की आपसी बातचीत में मिल जाता है जिसे **संग्राम** कहा गया है। इसमें शाब्दिक व्यंग्य है। इसके दूसरे पन्ने पर होरी के विनोद में व्यंग्य का पुट है। होरी के यह कहने में कि मरद साठे पर पाठे होते हैं उक्ति का व्यंग्य है। होरी के गाँव बेलारी का ज़िला बताने की ज़रूरत नहीं है कि सब गाँव एक बराबर हैं—दीनता और हीनता की दृष्टि से यह छोटी-सी परख व्यंग्य को तीखा करती है और इसके धरातल को उठाती है। व्यंग्य के बजाय इसे आयरनी का नाम देना बेहतर जान पड़ता है। अमरपाल सिंह के बारे में यह सूचना देना कि अपने पिता से जायदाद के साथ-साथ उन्होंने भक्ति भी पायी थी उसके रेखाचित्र को व्यंग्यात्मक बना डालता है। इसी तरह ऋण वह मेहमान है जो एक बार आकर जाने का नाम नहीं लेता। इसमें उक्ति का व्यंग्य है। कभी-कभी व्यंग्य-बाणों की इतनी बौछाड़ लग

---

१. **गोदान : मूल्यांकन और मूल्यान, १८०**

जाती है कि लेखक अपने तरकश खाली करने पर तुल जाते हैं। इन सब के विस्तार में अनावश्यक जान पड़ता है, लेकिन व्यंग्य अपने चरम विकास पर है जब **क्रियाकरम** का संवाद चलता और अन्तिम तान इस कथन पर तोड़ी गयी है—बाकी बचा एक, वह आपकी क्रियाकरम के लिए। इसका स्वरूप कामदीय है और उपन्यास के अन्त में व्यंग्य का स्वरूप त्रासदीय जब धनिया यह कहकर—महाराज घर में न गाय है, न बछिया, न पैसा। यही पैसे हैं, यही इनका गोदान है, पछाड़ खाकर गिर पड़ती है। इस तरह होरी का धरा पर शायी होना त्रासदीय है और पुरोहित दातादीन का सामने खड़ा होना स्थिति के ऐसे व्यंग्य को उजागर करता है जो देर तक सालता रहता है और उपन्यास के बाहर होकर पाठक की संवेदना को झकझोरता रहता है।

अज्ञेय के उपन्यास **शेखर : एक जीवनी** में कभी-कभार आयरनी के उपयोग की गवाही तो मिल जाती है, लेकिन व्यंग्य को खोजना सागर में डुबकी लगाकर खाली हाथ लौटना है। उपेन्द्रनाथ अश्क के उपन्यासों में इसके विपरीत व्यंग्य की पैनी धार है जो सामाजिक कुरीतियों और विषमताओं को काटती चली जाती है। (**गिरती दीवारें** (१९४७) **शहर में घूमता आइना** (१९६०) तक लेखक अपने नायक के माध्यम से कभी इन पर गहरी चोटें करते हैं तो कभी मीठी चुटकियाँ लेते हैं। लेखक यह दावा पेश करते हैं कि पाठक **गिरती दीवारें** को पढ़कर यह महसूस करे कि समाज को बदलना है ताकि वह अपने को कुण्ठाओं से बचा सके। इनके उपन्यास का नायक एक ही साँचे में ढला हुआ है, पेट और सेक्स की भूख से इतना पीड़ित नहीं है जितना अहं से। वह निचले तबके का सदस्य है जिसका जीवन इन तीन सूत्रों से संचलित है। यदि चेतन के व्यक्तित्त्व को इनके उपन्यास की धुरी मान लिया जाये जिसके सहारे यह रथ चलता है तो वंसीलाल के समय चेतन अपनी किशोरावस्था में था, चेतन के समय वह अपनी यौवनावस्था में, जगमोहन (**गर्म राख**) के समय अपनी अधेड़ अवस्था में और चेतन के समय (**शहर में घूमता आइना**), (नन्हीं कंदील) अपनी वृद्धावस्था को पहुँच गया है जो अतीत के बल पर इसलिए जीता है कि उसके पास न तो आगत है और न ही अनागत। वह विगत का सहारा ही ले सकता है। अश्क का चरित-नायक अपनी विवशता में सिसकता रहता है, सामाजिक विधान को तोड़ने की बातें तो कर सकता है लेकिन इसे तोड़ नहीं सकता। इसलिए वह व्यंग्य का कवच पहन कर अपने व्यक्तित्त्व को सुरक्षित रखना चाहता है। चेतन जीना चाहता है, इससे वंचित होकर वह छटपटाता है, भटकता है, कराहता है और विवशता की स्थिति में सब पर व्यंग्य-त्राण छोड़ता है। **गिरती दीवारें** और अन्य उपन्यासों में अश्क ने व्यंग्य-चरित्रों की रचना भी की है। **गिरती दीवारें** में वैद्यराज रामदास, हुनर साहब, **गर्म राख** में कवि चातक और **शहर में घूमता आइना** में महन्त आदि पात्र हैं जिनका चित्रण व्यंग्यात्मक है। **बड़ी-बड़ी आँखें** उपन्यास में भी, जो रोमांटिक बोध में सना हुआ है, देवनगर के संस्थापक, **देववाणी** के सम्पादक और **देवसेना** के सेनापति देवाजी के व्यक्तित्व को व्यंग्यात्मक दृष्टि से चित्रित किया गया है। इस तरह अश्क ने अपने उपन्यासों में वैयक्तिक और सामाजिक विकृतियों का व्यंग्य के माध्यम से सामना किया है और व्यक्ति-हित की दृष्टि से इन पर मीठी-कड़वी चोटें की हैं।

कृष्ण बलदेव वैद के **विमल : जाएँ तो जाएँ कहाँ** (१९७४) का समूचा विधान व्यंग्यात्मक और आयरनीगत है जो विसंगति के बोध को उजागर करता है। आधुनिक विषमताओं को झेलने के लिए, इनसे जूझने के लिए लेखक को व्यंग्य का कवच धारण करना पड़ा है। इसे पाँच भागों में बाँटा गया है—**समाधि, स्थिति, सैर, सवाल** और **समाधान**—सब नामों में व्यंग्य का पुट है जो समकालीन उपन्यास की एक विशेषता बनता जा रहा है। सब से पहला सवाल यह उठाया गया है कि उपन्यास की शुरुआत कहाँ से की जाए। हर पुराने उपन्यास का मज़ाक उड़ाने के लिए उपन्यास का अर्थ इन शब्दों से किया गया है—राम से या विराग से, शक से या शिकायत से, शिव से या शव से। इनमें एक तो भाषागत खिलवाड़ है, दूसरा विसंगति का बोध जिसके मूल में व्यंग्य-दृष्टि है। इस अन्दाज़ में उपन्यास का समूचा रचना-विधान रचा गया है। इसका नायक विमल वानर है और हनुमान उसका चहेता हीरो है। एक राम का भक्त है और दूसरा रांड का रसिया है। इस तरह व्यंग्य की धार पुरातन को काटती चलती है। विमल समाधि से निकलना चाहता है। वह आधुनिक भक्त और सन्त है, लेकिन वह लेखक बनने की उधेड़बुन में है। साहित्य की रचना के विविध ढंगों का इस तरह मज़ाक उड़ाया गया है—मैं उबल कर, पिघल कर, कुरसी पर, ढीली खाट में पड़ा लिखता है। उसे लिखने के लिए एकांत और कान्ता दोनों चाहिए। क्या वह चाय पीकर, सिगरेट पीकर, गन्ने का रस पीकर, सोमरस पी कर या ख़ूने जिगर पीकर लिखे ? उपन्यास में एक-एक शब्द की रचना में व्यंग्य और विसंगति का बोध है। कभी समकालीन कहानीकारों का मज़ाक उड़ाया गया है—निर्मल वर्मा, श्रीकांत वर्मा, नरेश मेहता, मोहन राकेश इनमें शामिल हैं। फिल्मी गीतों को भी न बख्शा गया है—तुम मेरी ज़िन्दगी हो तुम मेरी गंदगी हो। इस तरह उपहास, पैरोडी, मसखरापन, मीरासीपन से काम लिया गया है। विमल का शहर की **शव-यात्रा** पर निकल पड़ना इसलिए लाज़मी है कि वह अपने लेखन के लिए अनुभूतियाँ बटोर सके। पौराणिक पात्रों पर छींटे कसना उपन्यास की रूढ़ि बन गयी है। उपन्यास का चौथा अंश जीवन के बुनियादी सवालों को उठाता है। आदत क्या है ? हक़ीक़त क्या है ? आदमी क्या है ? औरत क्या है ? इनके जवाबों में उलट-पुलट है जो व्यंग्य के बोध को गहराती है। काफ़ी हाउस में बैठकर कभी शायरी का मज़ाक उड़ाया गया है तो कभी उरोजों को लेकर। देश के सामने बड़े-बड़े सवाल हैं। मज़हब का सवाल मज़हब नहीं सिखाता कुछ भी। इसमें इक़बाल पर चोट है। होने-न-होने के सवाल को लेकर ग़ालिब पर चोट है। जीवन का स्वरूप ? यह भूख, प्यास, पेशाब, पाख़ाना, हँसी-रोना का बना हुआ है। इसमें पाँच तत्त्वों का मज़ाक उड़ाया गया है। अब कहाँ ? सवालों के बाद जिनके जवाब उलट-पुलट हैं। उपन्यास के अन्त में भी तुक नहीं है। अन्तिम अंश का आलाप या लटका इस तरह है—**मैं की महिमा**। उपन्यासकार विमल का क्या करे ? वह पुराने उपन्यासकारों की तरह न तो उसे रेलगाड़ी से गिरवा सकता है, न उसे मार सकता है और न उसे मरवा सकता है। अगर वह कुछ कर सकता तो उपन्यास का स्तर उठ सकता था। यह पुराने अन्त बोध पर चोट है। इसके बावजूद यह उपन्यास व्यंग्य-उपहास के स्तर पर एक घटना है। कृष्णबलदेव वैद के दूसरे उपन्यास **नसीरन** में मीठी-मीठी चुटकियाँ तो ली गयी हैं, लेकिन इसमें व्यंग्य की धार इतनी पैनी नहीं है जितनी **विमल : जाएँ तो जाएँ कहाँ** में है। एक संवाद—तुम चाहते हो

कि औरत खूबसूरत और जाहिल हो। नहीं, खूबसूरत और खामोश। आवाज़ के बग़ैर इन्सान भूत में बदल जाता है। भूत नहीं भगवान्। इस तरह भगवान् पर मीठी चुटकी ली गयी है। वेद के उपन्यास में व्यंग्य-उपहास का स्वरूप लटकेबाज़ी की गवाही देता है जो विसंगति के बोध को गहराता है।

श्रीलाल शुक्ल का उपन्यास राग दरबारी (१९६८) यह दावा पेश करता है कि इसमें इस नाम के राग की गायिकी की अनुशासित पद्धति का अनुसरण **पहली** बार हुआ है। इस उपन्यास के बारे में यह कहना कि यह **व्यंग्य-कथा** नहीं है और यह एक आंचलिक उपन्यास है इसके मूल रचना-विधान की उपेक्षा करना है। क्या व्यंग्य-रचना करुण और राग की संभावना नहीं हो सकती? **राग दरबारी** में व्यंग्य का गहरा पुट है जो जीवन-वास्तव को एक और धरातल पर उजागर करता है। **यह उपन्यास कभी-कभी तो व्यंग्य-लेखों का संकलन-मात्र लगता है** जिन्हें जोड़ने के लिए या एक सूत्र में बांधने के लिए इसमें कथा-नायक रंगनाथ से काम लिया गया है।

इस उपन्यास की शुरुआत शहर की बगल में एक बस्ती शिवपालगंज से होती है जो इतना विस्तार पा लेती है कि यह सारे देश का संकेत देने लगती है। इसे उजागर करने के लिए या इसके वास्तव को पकड़ने के लिए लेखक कभी व्यंग्य का सहारा लेते हैं तो कभी विनोद का, कभी उपहास का तो कभी आयरनी का। इस शहर से जुड़ी बस्ती को **भारतीय देहात का महासागर** कहा गया है और इस नाम से भाषा की व्यंग्यात्मक बुनावट का परिचय मिलने लगता है। उपन्यास में कभी शब्द का व्यंग्य है, कभी कथन का तो कभी रेखा-चित्र का। इस तरह इसका समूचा रचना-विधान व्यंग्य की संवेदना में सजा हुआ है। उपन्यास रंगनाथ और ट्रक-संचालक की बातचीत से शुरू होता है। मुसाफिर-गाड़ी केवल डेढ़ घंटा लेट है। इसमें शब्द का व्यंग्य है। ट्रक में गियर किस तरह लगता है इसकी तुलना देश की सरकार से की गयी है—ट्रक तो नियोटरल से चलती नहीं, देश की विदेश-नीति नियोटरल से किस तरह चलती है, इसमें कथन का व्यंग्य है। इसमें कभी ढीलापन आ जाता है, कभी सतहीपन तो कभी भोंडापन, लेकिन आमतौर पर इसमें पैनापन है। **गोदान** की संरचना के मूल में भी व्यंग्य है, लेकिन यह त्रासदीय स्तर पर है। **रागदरबारी** में व्यंग्य का स्वरूप कामदीय है। रंगनाथ खादी पहनता है जिसे तुक का आदमी नहीं पहनता। इसमें राजनीतिक नेताओं पर चोट है। इसी तरह औरतों का कतार बाँध कर वायुसेवन करना और साथ ही मलमूत्र का रेचन करना राममनोहर लोहिया की याद दिलाता है जो इसे आधे भारत की सबसे बड़ी समस्या मानते थे। इसमें व्यंग्य का स्वरूप सामाजिक है।

एक-एक बात का निरूपण करने के लिए एक-एक व्यंग्य-लेख की रचना करनी पड़ी है—यह चाहे भाँग पीने की विधियों पर हो या जुतियाने के तरीकों पर, भाषणबाज़ी पर हो या ठहाकों की किसमों पर, घूसखोरी पर हो या इश्कबाज़ी पर, मेले पर हो या कचहरी पर, लोकतन्त्र पर हो या चुनावों पर, संगीतशास्त्र पर हो या बादाम खाने पर, गंजही-पद्धति पर हो या शोध-पद्धति पर। छोटी-छोटी बातों को लेकर कभी मीठी चुटकियाँ ली गयी हैं तो कभी

व्यंग्य-वाण छोड़े गए हैं। **रागदरबारी** में व्यंग्य-चित्रों की भरमार है—रूघन बाबू, बख्तावर सिह, वैद जी। व्यंग्य का स्वरूप कहीं विस्तार पाकर शिथिल हो जाता है तो कहीं कसा हो कर पैना होने की गवाही देता है। इस तरह व्यंग्य-विनोद कभी शब्द में है, कभी उक्ति में है, कभी स्थिति तो कभी रेखा-चित्र में। यदि सस्ते और सतही व्यंग्य को आँकना हो तो इसे अनेक अंशों में पाया जा सकता है—लेक्चरबाज़ी के अंश में, कवि-कहानीकार के अंश में, शोध का मज़ाक उड़ाने के अंश में। बुद्धिजीवियों पर तो व्यंग्य-बाणों की बौछाड़ की गयी है। इसमें लंगड़ का चरित्र-चित्रण व्यंग्यात्मक है। वह कचहरी में अपनी ज़मीन के टुकड़े के लिए भटकता रहता है और इन्साफ़ पाने का इन्तज़ार करता रहता है जो इंतजार बनकर रह जाता है। इस तरह स्थिति या परिवेश पर व्यंग्य व्यापक रूप धारण कर लेता है।

बदीउज्ज़मां के दो उपन्यास व्यंग्यात्मक रचना-विधान को लिए हुए हैं—**एक चूहे की मौत** (१९७१) और **छटातंत्र** (१९७७)। पहले उपन्यास में चूहाखाना एक पूरे विधान का संकेत देता है, एक पूरे तन्त्र को उजागर करता है जिसकी विशेषता यह है—तन्त्र चूहों को खत्म करना नहीं चाहता, चूहों को खत्म करने का मतलब होगा, अपनी हस्ती को खत्म करना। इस उपन्यास में दो चूहेमारों की मौत की कथाएं हैं—**प** और **ग** नामहीन होने की गवाही देते हैं और नामहीनता मानव की नियति पर व्यंग्य है या यह आयरनी के बोध को उजागर करती है। दोनों पात्र एक-एक बड़े सरकारी दफ्तर में या सचिवालय में तीसरे दरजे के चूहेमार हैं या छोटे नौकर हैं जिनका काम चूहों का मारना या फाइलों को निपटाना है। यह सचिवालय एक बड़े तन्त्र या विधान का संकेत देता है जिसमें इन्सान की हस्ती या हैसियत एक चूहेमार से अधिक नहीं है। चूहे मारने या फाइलों को निपटाने से **ग** को नफ़रत है, लेकिन यह उसकी विवशता भी है। बदीउज्ज़मां ने समकालीन वास्तव को उजागर करने के लिए फैंटेसी को माध्यम बनाया है। व्यंग्य बात-बात से इसी तरह उभरता है जिस तरह केले के पात से पात निकलता है। इसमें व्यंग्य न केवल आधुनिकता के बोध को गहराता है, तदस्थता की भी गवाही देता है। इसके बाद चूहेमार खुद चूहा बन जाता है उसका कायान्तरण हो जाता है जो काफ़का की कहानी **भोंगा** की याद दिलाता है। उपन्यास का अन्त, दूसरे चित्रकार के अन्त से होता है। इसमें समकालीन विधान पर गहरी चोट की गयी है जो व्यंग्य या आयरनी का यह बराबर उद्देश्य रहा है, लेकिन इसके स्वरूप में अन्तर आ गया है। यह इसके विकास को सूचित करता है। इस विधान या व्यवस्था में घोर यन्त्रणा और यातना में इस चूहे को, जो इन्सान की लाचारी का संकेत देता है, यह महसूस होने लगता है कि सदियों से जमी मैल उसके मन और शरीर से उतरती जा रही है। **ग** अपने पत्र में आज के सामाजिक विधान का बयान, इस तरह कर गया है—चूहेखाना सिर्फ वह नहीं है जहाँ तुम काम करते हो या जहाँ मैं काम करता था। सारी दुनिया ही एक बड़ा चूहाखाना है जहाँ भार बन कर ज़िन्दगी बसर की जा सकती है। जो चूहे नहीं मारता उसके लिए दुनिया में कोई जगह नहीं है (पृ० ७३)। **प** महान् चित्रकार नहीं है, एक सफल चूहेमार है। दुनिया चित्रकला की क़दर नहीं करती, सफलता की करती है। इस तरह के करारे व्यंग्य उपन्यास के धरातल को उठाते हैं जिसका स्वरूप कायद भी है और वायद भी। व्यंग्य का पुट

कभी-कभी पतला होने की गवाही देता है जो कविता में कसा हो सकता है, लेकिन उपन्यास के विन्यास में यह शिथिल पड़ जाता है।

बदीउज़्ज़मां ने अपने उपन्यास **छटातंत्र** में **एक चूहे की मौत** के रचना-विधान को अपनाया है जो व्यंग्यात्मक है। अन्तर यह है कि पहले में व्यंग्य का स्वरूप त्रासद-कायद है जो विसंगति के बोध को उजागर करता है, लेकिन दूसरे में इसका स्वरूप कामदीय है। इसमें पंचतंत्र की एक कथा को आधार बनाया गया है और इसलिए शायद इसका नामकरण इसके वजन पर किया गया है। जाकान नगर में सनोबर नाम की एक बिल्ली है, और बिल्लियाँ भी हैं, तरह-तरह के चूहे हैं, जीवट वाले भी डरपोक भी। इनमें आपसी सम्बन्ध शोषक और शोषित का है जो इसे समकालीन बनाता है और इसके परिवेश पर चोट करता है। बिल्लियों और चूहों के नामों से विनोद का पुट है। चूहों के नाम रोनी, लोशी, शोमी, शेरू और गोहर हैं और बिल्लियों के नाम सनोबर, शमशाद, गुलाब आदि हैं। चूहों के नामों से शोषितों की गंध आती है। देहातीपन झलकता है और बिल्लियों के नामों से शोषकों की बू आती है। निराला और रघुवीर सहाय ने अपनी कविता में इस तरह के नामों के उपयोग से व्यंग्य के बोध को उजागर किया है। इस उपन्यास में बिल्लियों और चूहों की ज़बानी और इसके बहाने छटेतन्त्र पर यानी व्यवस्था पर करारी चोट की गयी है। **पंचतन्त्र** का उद्देश्य तो शायद राजकुमारों को राजकाज का काम सिखाना था और **छटातन्त्र** का उद्देश्य पाठक-समाज को या जन को (जन भी जनता से अलग है) व्यवस्था के चलन की जानकारी देनी है, चेतावनी भी ताकि इसमें नये बोध का जागरण हो सके और वह अपनी सामूहिक शक्ति को पहचान सके। इस तरह व्यंग्य का उद्देश्य और स्वरूप बदला हुआ है। इसमें सीधे सुधार का उद्देश्य नहीं है। इस उपन्यास के रचना-विधान में व्यंग्य का पुट गहरा और निखरा हुआ है। यह तब उभरता है जब बिल्लियों और चूहों को मानवीय रूप में उतारा गया है, वे आस्तिक भी हैं और नास्तिक भी, ख़ुदा की हस्ती के बारे में संशयवादी भी हैं। स्नोबर को चूहों की तलाश है और चूहे डर के मारे अपनी बिलों से निकल नहीं रहे हैं। बिल्ली एक शराबखाने में घुस जाती है, लेकिन उसे निराश होना पड़ता है। अगर वह मयखाने के बजाय किसी मस्जिद में घुस जाती तो अब तक कितने चूहे चट कर जाती। उसे इतना भी पता नहीं है कि अल्लाह की रहमत मस्जिदों में बँटती है। इसमें मज़हब पर करारी चोट है और इसमें उक्ति का व्यंग्य है। वह वज़ूह करने के बाद नमाज़ पढ़ने लगती है। इसमें स्थिति का व्यंग्य है। इस पर एक संशयालु चूहा कहता है—मुझे तो दाल में काला नज़र आता है, बिल्ली नमाज़ पढ़े या हज करे, वह बिल्ली ही रहेगी (पृ० ८३)। एक सूफ़ियाना मिज़ाज चूहे का व्यंग्यात्मक कथन है कि रोगनदार लज़ीज़ गिज़ा खाने से रात को गहरी नींद आती है और अल्लाह की इबादत में गफ़लत पैदा होती है। इसी तरह बिल्ली के सजदे में व्यंग्य का गहरा पुट है जब वह अपने गुनाहों को कबूल करती है और अपनी नीयत का भरोसा दिला कर एक साथ तीन चूहों का काम तमाम कर देती है। इस भरोसे में कथन का व्यंग्य है और गांधीवाद पर चोट है—आज चूहे तमाम बिल्लियों की अमानत हैं (पृ० ९२)। बिल्लियों और चूहों के आपसी संघर्ष में शोषित और शोषक के संघर्ष का संकेत है। इसके चित्रण में बार-बार व्यंग्य उभरता है जिसका स्वरूप राजनीतिक है और भारतेन्दु काल के

राजनीतिक व्यंग्य से भिन्न है जो इसके निखार और विकास का परिचय देता है। उपन्यास के अन्त में बिल्लियों ने ऐसा जाल बिछाया है कि यह चूहों के दिमाग़ से बाहर है। यह उसी तरह जिस तरह राजनीतिक विधान धन के बल से सब के दिमाग़ खरीद लेता है। इसमें समकालीन स्थिति पर व्यंग्य साफ़ है। सूफ़ी चूहे की इस टीका में व्यंग्य का पुट उभरने लगता है—हज़रत सही फरमाते थे कि जो कुछ होता है खुदा के हुक्म से होता है। चूहों का एक-एक कर के बिल्लियों के मुँह में चले जाना भी खुदा के हुक्म से हो रहा है। मौत तो ज़िन्दगी का तकाज़ा है, उसे ज़िन्दगी से अलग नहीं किया जा सकता है। यह नियतिवादी दृष्टि पर गहरी चोट है। इस तरह बदीउज़्ज़मां ने अपने इन दो उपन्यासों में व्यंग्य का स्वरूप आयरनीगत होने की गवाही देने लगता है जो इसके परिष्कार का परिणाम है।

जगदम्बा प्रसाद दीक्षित के उपन्यास **मुरदा घर** (१९७४) में विशेष रूप से व्यंग्य का तीखा और निखरा स्वरूप उभरता है। इसमें कभी जेल के जीवन पर तो कभी अदालत और इसके इन्साफ़ पर लेखक ने इतने व्यंग्य-बाण छोड़े हैं कि इनका तरकश खाली हो गया लगता है। अदालत में भेड़ें और बकरियाँ हैं। मुरदा घर आज के परिवेश के एक पहलू पर व्यापक व्यंग्य का संकेत देता है। वैद के **बिमल** में व्यंग्य का स्वरूप दीक्षित के **मुरदा घर** में व्यंग्य के स्वरूप से भिन्न है। एक में यह कला के अवमानवीकरण का परिणाम है और दूसरे में कला के मानवीकरण का, एक में मानव की नियति को व्यंग्य के धरातल पर उजागर किया गया है और दूसरे में मानव की स्थिति को, मानव की स्थिति को उसकी स्थिति से अलगाया जा सकता है या नहीं, यह एक अलग सवाल है। इस समय सवाल व्यंग्य के स्वरूप और उद्देश्य को, पहचानना और परखना है। जगदीशचन्द्र ने भी अपने उपन्यासों, में **धरती धन न अपना** (१९७२), **कभी न छोड़े खेत** (१९७६) और **मुट्ठी भर काँकर** (१९७६) में व्यंग्य का उपयोग देहाती जीवन की असंगतियों-विसंगतियों को उजागर करने के लिए किया गया है। इसमें मुहावरों के माध्यम से उभरता है—जैसे गोरा कमीन और काला ब्राह्मण दोनों हरामी होते हैं, और औरत घोड़ी उसकी होती है जो इस पर सवार होता है, पराये तेल में कुल का दिया नहीं जलता, चार खेत वालों की शादी अरथी में लेट कर हो सकती है। इस तरह मज़हब का मज़ाक उड़ाया गया है तो कभी जात का, कभी कामरेड के पुलेतारी बनने का तो कभी समाजी के महाशय बनने का। **कभी न छोड़े खेत** में कभी रिश्वतखोरी का मज़ाक उड़ाया गया है तो कभी छोटे-बड़े डाक्टरों का। उपन्यास का विन्यास मुहावरों से अटा पड़ा है जिनमें व्यंग्य-विनोद का पुट है—रंडी और फंडर गाय का वाली वारिस नहीं होता, मुकदमा अमर बेल की तरह होता है—आदमी फँसा तो उसे चूस लेती है, कंजरी काते तो सूत का उजाड़ा **मुट्ठी भर काँकर** में व्यंग्य-चरित्रों की भरमार है—हवासिंह, माड़ूसिंह, दलीलसिंह, बनिया दुनीचन्द, इस परिवेश के टकसाली पात्र हैं। लेखक देहातियों की सादगी और अंध-विश्वासों पर मीठी चुटकियाँ लेते हैं। इन भोलों के लिए लोहे का घोड़ा (साइकल) सब से बड़ा अचंभा है। इसे पाने की बेहद खुशियों को व्यंग्य-दृष्टि से आँका गया है। उपन्यास के अन्त में आयरनी झंकृत होने लगती है। परहलाद सिंह और अंगूरी के पास ज़मीन के बदले में नोटों की गट्ठियाँ हैं जिन्हें दबाने के लिए एक छोटा-सा गढ़ा खोदा गया है। अंगूरी को कोठरी में डर लगता है और वह अपने पति को साथ सुला कर अपने

भय को दूर करती है। **इब सो जा आराम से** के साथ उपन्यास का अन्त हो जाता है और आराम से सोने में आयरनी का बोध उजागर होने लगता है। जगदीशचन्द्र के उपन्यास में व्यंग्य-विनोद का जो पुट है वह इनके कलात्मक संयम और तटस्थ दृष्टि का परिणाम है। इसका स्वरूप आवेशात्मक या आवेगात्मक न होकर बौद्धिक है। यह समकालीन उपन्यास में व्यंग्य-विनोद और आयरनी की विशेषता है। वह चाहे गिरिराज किशोर का चिड़िया घर (१९६८) हो जिसमें व्यवस्था पर चोट है या मणिमधुर का **सफ़ेद मेमने** जिसमें व्यंग्य के छींटे ज़िन्दगी के ठहराव को तोड़ते हैं—**रेल आदमी को बदलती नहीं है**, भीष्म साहनी का **तमस** हो जिसमें देश-विभाजन को त्रासद-आयरनी की दृष्टि से आँका गया है या राही मासूम रज़ा की **सीन ७५** (१९७७) जिसमें फिल्मी दुनिया पर नुकीला व्यंग्य है। इनके **टोपी शुक्ला** में एक भी गाली नहीं है, लेकिन इसके बारे में यह दावा किया गया है कि यह पूरा उपन्यास एक गन्दी गाली है। व्यंग्य-विनोद का गहरा सम्बन्ध गालियों या अश्लीलता से होता है और लेखक इनके माध्यम से व्यंग्य को उजागर करता है। महेन्द्र भल्ला के उपन्यास **दूसरी तरफ़** में एक भारतीय की विडम्बनात्मक स्थिति को उजागर किया है जो इंगलैण्ड जैसे देश में रंगभेद का शिकार बन जाता है। इसमें कभी-कभी मीठी चुटकियों से काम लिया गया है तो कभी विनोद-व्यंग्य से। हर समकालीन उपन्यासकार व्यंग्य का सहारा इसलिए लेता है कि वह आज के जीवन की असंगतियों-विसगतियों का सामना इसके बिना कर नहीं सकता। व्यंग्य और आयरनी उसे तटस्थ दृष्टि देते हैं। उसका उद्देश्य मानव की स्थिति और नियति को बदलना नहीं है, इसे अपनी जटिलताओं के साथ उजागर करना है। वह इतना हँसता नहीं है जितना मुस्कराता है। इसलिए उसके व्यंग्य में इतनी कटुता नहीं है जितनी भारतेन्दु काल के लेखन में थी। व्यंग्य की विदूषक-शैली मसखरा-शैली में बदलने की गवाही देती है और भाँड़-शैली मीरासी-शैली में और इसका निरूपण एक शोधक को अधिक शोभा देता है।

४. हिन्दी-उपन्यास की तरह हिन्दी-कहानी में व्यंग्य की शुरुआत अगर प्रेमचन्द की कहानियों से की जाये तो संगत है **पूस की रात** (१९३४), **कफ़न** (१९३६)। **जुरमाना** में व्यंग्य का पुट गहराने लगता है। अगर **टाँगे वाले की बड़** को, जिसे कहानी की कोटि में नहीं रखा गया है। इनमें शामिल कर लिया जाए तो प्रेमचन्द के व्यंग्य-विकास की बेहतर पहचान हो सकती है। इनकी पहले की कहानियों में भावुकता का पुट है, इसलिए इनमें व्यंग्य का पुट कभी-कभार देखने को मिलता है। इनकी आँखों में जैसे-जैसे आँसू सूखते गए हैं वैसे-वैसे इनकी दृष्टि साफ़ होती गयी है और व्यंग्य के स्वरूप में निखार आता गया है। यह आयरनी में बदलता गया है। इन कहानियों पर सरसरी नज़र डालने से इसकी गवाही मिल जाती है। **पूस की रात** के अन्त में हल्कू का यह कहना कि अब ठण्ड में सोना नहीं पड़ेगा स्थिति के व्यंग्य को उजागर करता है। **कफ़न** का समूचा रचना-विधान व्यंग्यात्मक है। **जुरमाना** में अलारक्खी के इस कथन में कि कुछ जरमाना नहीं है व्यंग्य की धार पैनी है। इसी तरह **लेखक** कहानी में व्यंग्य का गहरा पुट है और **शतरंज के खिलाड़ी** में विनोद का पुट है। इस तरह हिन्दी-कहानी को व्यंग्य-विनोद की सम्पन्न परम्परा विरासत में मिली है। प्रेमचन्द के समकालीन **जयशंकर प्रसाद** की कहानी में व्यंग्य का लगभग अभाव है। यह शायद इसलिए कि

प्रसाद ने हास्य की पाश्चात्य मान्यता को स्वीकार नहीं किया है या वह अपनी कहानी में रोमांटिक बोध का निरूपण करते हैं। वह चाहे **मधुआ** हो या **आकाश दीप** जिसमें भावुकता का पुट व्यंग्य-विरोधी है। हिन्दी का आलोचक वक्रोक्ति को व्यंग्य के रूप में ले तो लेता है, लेकिन इससे सहमत होना कठिन है। व्यंग्य सेटायर के मायनी में रूढ़ हो चुका है और यह पाश्चात्य परम्परा की देन है। भारतीय और पाश्चात्य काव्य-शास्त्र की अलग-अलग परम्पराएँ हैं। प्रसाद अपने नाटकों में भी विदूषक की परम्परा से परिचित हैं, लेकिन वह व्यंग्य के उपयोग से परहेज़ करते रहे हैं। **यशपाल** की अनेक कहानियों में व्यंग्य के बोध को आँका जा सकता है। इनकी कहानी वॉन हिण्डनबर्ग (१९४६) में व्यंग्यात्मक दृष्टि का संकेत मिलता है। यह जर्मन सेनानायक का नाम है जिसे बूढ़े माली के लिए चुना गया है, जो सेनानायक की तरह लंगड़ाता है। इसमें व्यंग्य का पुट रचना को मार्मिक बनाता है। बूढ़ा माली जर्मन सेनानायक से कम नहीं है। यशपाल जब नारी की वकालत करते हैं तो सामाजिक कुरीतियों को व्यंग्य से काटते चले जाते हैं। वह **अपनी चीज** कहानी में उस सामाजिक मान्यता की कड़ी आलोचना करते हैं जो नारी को एक व्यक्ति के बजाय एक वस्तु मानने के लिए बाधित करती है। इसी तरह **पाँव तेल की डार** नामक कहानी में नारी को भोग्या के रूप में अंकित कर सामाजिक रूढि पर कड़ा व्यंग्य कसा गया है। भगवान में अंधविश्वास पर भी कड़वी-मीठी चोटें अनेक कहानियों में की गयी हैं। **खुदा की मदद** कहानी इसका उदाहरण है। वह न केवल भारतीय अन्ध-विश्वासों पर चोटें करते हैं, विदेशी शासन-विधान की भी आलोचना करते हैं। इस तरह वह भारतेन्दु काल की व्यंग्य-परम्परा को सम्पन्न बनाते हैं, इसका थोड़ा परिष्कार भी करते हैं। इनकी कहानी **धर्मरक्षा** ने आर्यसमाजी के सदस्यों में उथल-पुथल मचा दी थी जब इन्होंने इसमें कुण्ठित सेक्स को व्यंग्य की दृष्टि से आँका था। इनकी कहानी-कला का उद्देश्य समाज का सुधार, व्यक्ति का परिष्कार और जीवन का संशोधन है। इसलिए इनके अधिकांश व्यंग्य का स्वरूप सुधारवादी है। लेखक के पास व्यंग्य का पैना अस्त्र है जो चारों ओर के जाल को काट कर नारी को रूढ़ियों से छुटकारा दिलाना चाहता है, मन को अंध-विश्वासों से मुक्त करना चाहता है। इसका इस्तेमाल वह बिना किसी झिझक के करते हैं। इनकी बुद्धि निश्चयात्मक है। इसलिए इनके व्यंग्य का स्वरूप भी सपाट है, वह सीधी मार करता है, लक्षणा-व्यंजना का सहारा नहीं लेता।

अज्ञेय की कहानी **ग्रेंग्रीन** या रोज़ में व्यंग्य का स्वरूप आयरनीगत है जो जीवन की बोरियत को उजागर करता है और वह **रोज** शब्द को बार-बार दोहराने से पैदा होता है। रोज़ ही मालती के पति डॉक्टर महेश्वर देर से आते हैं, रोज़ ही दोपहर को नल में पानी बन्द हो जाता है, रोज़ ही वह पति के बाद खाना खाती है, रोज ही वह पति से बीमारी की बातें सुनती है, रोज़ ही वे गरमी में भीतर सोते हैं, रोज़ ही शिशु खाट से गिर पड़ता है और उसे चोटें लगती हैं। इसमें स्थिति की आयरनी है। डॉ० महेश्वर गेंग्रीन का इलाज करता है और यह रोग पाँव में काँटा चुभ जाने से पैदा होता है। मालती को भी काँटा चुभ गया है या घुन लग गया है। इसमें भी आयरनी का बोध है। अज्ञेय की कहानी **साँप** में इनकी कविता साँप की तरह आयरनी का बोध है। **उपेन्द्रनाथ अश्क** अपने नाटक और उपन्यास की तरह अपनी

कहानी में भी व्यंग्य चरित्र के रूप में उभारते हैं। इस तरह व्यंग्य की अभिव्यक्ति जब स्थूल रूप में की जाती है तो यह अकलात्मक रचाव की गवाही देती है। अश्क की तरह **भीष्म साहनी** की कहानी में भी कभी तो मीठी चुटकियाँ ली गयी हैं तो कभी व्यंग्य के बाण छोड़े गए हैं। **चीफ की दावत, यादें** और **सिफ़ारिशी चिट्ठी** में धीमी हँसी और हल्के-फुल्के व्यंग्य की गवाही मिलती है। अगर **चीफ की दावत** में व्यंग्यात्मक स्थिति है तो **सिफ़ारिशी चिट्ठी** में भी इसकी गवाही मिलती है। **यादें** में चाची लखमी और गोमा जब अतीत को अपने बुढ़ापे में ताज़ा करती हैं तो कहानी में व्यंग्य का पुट कहानी को जीवन के निकट लाता है। बुढ़ापे की स्थिति को सजीव बनाता है। गोमा का सूजे हुए घुटनों पर हाथ से ताल देना स्थिति को विडम्बनात्मक बनाता है। जहाँ तक गीत के शब्दों का सवाल है—जो घड़िया सो मजदाई-स्थिति पर व्यंग्य कसता है। इसका स्वरूप इतना सूक्ष्म नहीं है जितना स्थूल है। **सिफ़ारिशी चिट्ठी** में व्यंग्यात्मक स्थिति इसके अथ से लेकर इति तक जारी रहती है—एक क्लर्क का किसी बड़े आदमी से क्लर्कों के सामने पहचान लिया जाना। बड़े आदमी का त्रिलोकी बाबू के कन्धे पर हाथ रख कर उससे बतियाना उसके जीवन में एक घटना के समान है। इससे पति-पत्नी के नीरस जीवन में नये जीवन का संचार होने लगता है। कन्ती के सपने जागने लगते हैं। इस स्थिति का व्यंग्यात्मक चित्रण कहानी के मिजाज़ को साफ़ करता है। इस तरह भीष्म साहनी साधारण लोगों की छोटी-छोटी बातों को कहानी में लेकर इनमें व्यंग्य का पुट देते हैं।

मोहन राकेश की कहानी में, जो भीष्म साहनी की कहानी की तरह सरल और सपाट नहीं है, व्यंग्य का स्वरूप संकेतात्मक और सूक्ष्म है। **जानवर और जानवर** में कुत्तों के माध्यम से इन्सान और इन्सान में अन्तर का जो सूक्ष्म संकेत दिया गया है इसमें व्यंग्य का स्वरूप परिष्कृत है, आयरनी की गवाही देता है। इस कहानी की रचना-प्रक्रिया आयरनी के स्तर पर है और व्यंग्य के छींटे रचना में जान डालते हैं। इसमें मिशन अहाते की सतही और खोखली जिन्दगी को उजागर किया गया है और व्यंग्य सपाट कथन में रंग भरता है। इस तरह राकेश की कहानी **मिस पाल** का रचना-विधान भी व्यंग्यात्मक है। वास्तव में मिस पाल का व्यक्तित्व विडम्बनात्मक है। उसकी जन्मकुण्डली में लिखा हुआ है कि इस जन्म में उसे न दौलत मिलेगी, न शोहरत और न ही मुहब्बत। उसका तन फैला हुआ है और मन बिखरा हुआ है। उसकी देह उसके जीवन का भार बन जाती है। वह इन्सानों और चूहों से तंग है। वह पहाड़ पर अपने को एकान्त में बन्द कर कला को साधना चाहती है। वहाँ बस स्टैण्ड पर दो लड़कियाँ खुसर-फुसर करने लगती हैं कि यह औरत है मरद। एक चित्रकार के नाते वह विकृत चेहरों को उतारती है। इस तरह मिस पाल के चेहरे के विकृत चित्र को अंकित करने में व्यंग्य-दृष्टि से काम लिया गया है। मोहन राकेश की अनेक कहानियों में व्यंग्य और आयरनी के संकेत मिल जाते हैं। वह चाहे **मलबे का मालिक** हो या **अपरिचित, सामाएँ** हों या **सुहागिनें, सेफटी पिन** हो या **पाँचवें माले का फ्लैट**। निर्मल वर्मा की कहानी में कभी-कभार व्यंग्य और आयरनी का उपयोग किया गया है—**परिन्दे** और **लन्दन की एक रात**। मोहन राकेश के व्यंग्य और निर्मल वर्मा की आयरनी में अन्तर यह है कि राकेश की कहानी में व्यंग्य वैयक्तिक और सामाजिक असंगतियों को उजागर करता है और निर्मल की कहानी में आयरनी नियति की विसंगति को।

इसी तरह व्यंग्य का उपयोग कमलेश्वर की कहानी में दिशाओं के खोने और राजेन्द्र यादव की कहानी में टूटे सम्बन्धों को उजागर करने के लिए किया गया है। कमलेश्वर की कहानी **एक रुकी हुई जिन्दगी** या **फालतू आदमी** में व्यंग्य का बोध है और राजेन्द्र यादव की कहानी **छोटे-छोटे ताजमहल** में स्थिति के व्यंग्य को आँका जा सकता है। उषा प्रियम्वदा की कहानी **मछलियाँ** में व्यंग्य की स्थिति इसके अन्त में उजागर होती है जब छोटी मछली बड़ी मछली पर वार करती है। इस तरह समकालीन वास्तव की जटिलता को उजागर करने के लिए लगभग हर कहानीकार ने व्यंग्य का उपयोग किया है जिसमें परिष्कार और निखार भी आया है। वह चाहे नयी कहानी का दौर हो या इसके बाद का। व्यंग्य का उपयोग रोमांटिक बोध को काटने के लिए है, इससे छुटकारा पाने के लिए है। इस तरह सामाजिक, राजनीतिक और सांस्कृतिक वास्तव में जैसे-जैसे असंगतियाँ-विसंगतियाँ गहराती जाती हैं वैसे-वैसे व्यंग्य-आयरनी का उपयोग बढ़ता गया है और बौद्धिक विकास के साथ-साथ इसमें निखार भी आता गया है। **कृष्ण बलदेव वैद** की कहानी **भूत** इसका उदाहरण है। इसमें पति और पत्नी बच्चों के बिखर जाने पर साथ-साथ रह कर एक लंबी खामोशी से किस तरह घिर जाते हैं इसे व्यंग्यात्मक दृष्टि से उजागर किया गया है। वैद की अनेक कहानियों में व्यंग्य और आयरनी से काम लिया गया है। वह चाहे एक **बदबूदार गली** हो या **एक था विमल**। श्री कान्त वर्मा की कहानी **शव यात्रा** में भी स्थिति का व्यंग्य है जो कठोर वास्तविकता को उजागर करती है।

हरिशंकर परसाई की रचनाओं में व्यंग्य के स्वरूप को आँके बिना यह आलेख अधूरा होने का खतरा मोल ले सकता है। इन्होंने व्यंग्य का उपयोग साहित्य की हर विधा में इस कदर किया है कि वह हिन्दी में व्यंग्य के बेताज बादशाह माने जाते हैं और कभी-कभी इनका नाम पेशा-वर व्यंग्यकार के रूप में उभरता है। हरि और शंकर, वैष्णव और शैव दो परस्पर-विरोधी मतों से बना इनका नाम भी इस बात का गवाह है कि वह व्यंग्य में करुणा की धारा भी बहाते हैं और इसके लिए वह चेखव की कहानी **बाबू की मौत** का हवाला देते हैं।[1] असल में इस कहानी में व्यंग्य का इतना पुट नहीं है जितना आयरनी का जब थियेटर में एक बाबू नाटक देख रहा होता है और उसके ठीक सामने उसका बॉस बैठा है। बॉस के पास चाँद है। बाबू को छींक आती है और उसे लगता है कि उसकी छींक के छींटे साहब की चाँद पर पड़े हैं। बाबू माफ़ी माँगता रहता है और स्थिति यह है कि साहब की चाँद पर छींटे पड़े ही नहीं हैं। इस तरह इसमें स्थिति का व्यंग्य नहीं है, स्थिति की **आयरनी** है और दोनों में अन्तर को आँकना लाज़मी है। इनकी रचनाओं में मात्र व्यंग्य का उपयोग कुछ आलोचकों को इस संदेह में डाल देता है कि व्यंग्य भी एक साहित्यिक विधा है। इन्होंने व्यंग्य का इस्तेमाल कभी संस्मरण में किया है तो कभी रेखाचित्रों में, तो कभी निबन्धों में तो कभी कहानियों में। इनकी पत्र-शैली भी इससे अछूती नहीं है। इनके उपन्यास-अंश में भी—फेल होना कुँअर अस्तमान का और करना आत्महत्या की तैयारी—व्यंग्य की पैनी धार है जो सामाजिक असंगतियों-विसंगतियों, विकृतियों-विषमताओं को काटती चली जाती है। इसी तरह व्यंग्य का राजनीतिक स्वरूप भी समकालीन स्थितियों

---

१. तिरछी रेखाएं, पृष्ठ १०।

पर करारी चोटें करता है। हरिशंकर ने भारतेन्दु-काल की व्यंग्य-परम्परा का परिष्कार किया है और इसे सम्पन्न बनाया है। इनके व्यंग्य में मूल्यों का निषेध नहीं है। यह न तो **बैठे-ठाले, ताल-बेताल** छाप का है और न ही **काका** छाप का। इनकी कहानी सदाचार का ताबीज़ इसकी गवाह है। कहानी में सुधारवादी संकेत नहीं है। इसमें सदाचार का ताबीज़ बाँधने वाला नायक दूसरी तारीख को रिश्वत नहीं लेता, लेकिन उन्तीस तारीख को वह इसे अस्वीकार भी नहीं करता। कारण, उसकी तनखाह खत्म हो गयी है। वह ताबीज़ पर कान लगा कर सुनता है और वहाँ से आवाज़ आ रही है—'अरे आज इकतीस है, आज तो ले लो।' यह व्यवस्था पर चोट है जो इन्सान को घूस लेने पर बाधित करती है। **सुदामा के चावल, एक गोरक्षक से भेंट, मैं हूँ तोता, प्रेम का मारा** आदि कहानियों में व्यंग्य का पैनापन आसपास की विसंगतियों को काटता चला जाता है। उपेन्द्रनाथ अश्क तक ने **हिन्दी हास्य व्यंग्य : एक शोभा-यात्रा** में हरिशंकर की कहानियों में व्यंग्य को बायें हाथ से स्वीकार किया है कि इनकी दृष्टि से व्यंग्यात्मक है, लेकिन इसमें श्रीलाल शुक्ल का मँजाव नहीं है।[1] एक सीमा तक अश्क का मत सही जान पड़ता है कि पत्रकारिता के दबाव में इनके व्यंग्य में निखार नहीं आ पाता। इनकी कहानी में व्यंग्य-विनोद सोद्देश्य है, केवल मनोरंजन के लिए नहीं है। इसलिए इनकी कुछ कहानियाँ समकालीनता के बावजूद समय की सीमा को लाँघ जाती हैं, लेकिन कुछ ऐसी भी हैं जो समय के गुज़रने के साथ उसी तरह मर जायेंगी जिस तरह भारतेन्दु काल की अधिकांश कहानियाँ। प्रेमचन्द की कहानी **पूस की रात** या **कफ़न** की तरह इनकी व्यंग्यात्मक कहानियों के चिरजीवी होने की संभावना नहीं है।

इस तरह समकालीन हिन्दी-कहानी में व्यंग्य कभी संकेत में है तो कभी स्थिति में, कभी परिवेश में है तो कभी चरित्र में। यह आयरनी का रूप भी धारण कर लेता है। यह कहानी चाहे ज्ञानरंजन की हो या रवीन्द्र कालिया की, काशीनाथ सिंह की हो या श्रीलाल शुक्ल की, शरद जोशी की हो या मनोहरश्याम जोशी की। जोशियों की कहानी में व्यंग्य का उपयोग गौण रूप में मिलता है। इस कहानी को देवीशंकर अवस्थी ने **नयी-कहानी** से इसलिए अलगाया था कि इसमें वास्तव को कहानी के **दौरान** उजागर किया गया है जबकि नयी कहानी में संकेतों आदि के माध्यम से वास्तव पर परदा डाला गया है। नयी कविता के बारे में भी सपाटबयानी को लेकर बहस गरम रही है। इस समय सवाल वास्तव को उजागर करने के ढंग का नहीं है, व्यंग्य के स्वरूप-विकास का है। **राकेश** की कहानी **परमात्मा का कुत्ता** में व्यवस्था पर कड़ा व्यंग्य है और **मलबे का मालिक** में देश के विभाजन पर गहरा व्यंग्य है। यह सही है कि **ज्ञानरंजन** की कहानी **हास्यरस** की तरह इनका समूचा रचना-विधान व्यंग्यात्मक नहीं है या **रचना-प्रक्रिया** की तरह पूरी तरह व्यंग्यात्मक नहीं है। **ज्ञानरंजन** की कहानी **रचना-प्रक्रिया** में प्रेम की प्रक्रिया शादी से पहले की है, **हास्यरस** में इससे मोहभंग की प्रक्रिया शादी के ऐन बाद की है और **दाम्पत्य** में शादी के बाद की है। इन तीन स्थितियों में आयरनी का बोध है। **रचना-प्रक्रिया** में नायक के शहर में, जो लेखक है, एक अफ़सर की बेटी टपक पड़ती है जिसके साथ

---

१. हिन्दी कहानी : एक अन्तरंग परिचय, पृष्ठ ३३४।

प्रेम-प्रक्रिया जारी हो जाती है, जिसके बयान का अन्दाज़ व्यंग्यात्मक है। उस लड़की से नायक की दोस्ती एक जनवरी से हो जाती है। वह एक दूसरे को चाहने तो लगते हैं, लेकिन कब तक इसे कहानी के बाहर छोड़ दिया गया है। इस तरह प्रेम-प्रक्रिया, जो एक रचना-प्रक्रिया है, साथ-साथ चलती है; दुश्मनों के दल ने इसे तोड़ने के लिए परचे छाप रखे हैं, लेकिन नायक में बजरंगवली का साहस है, जो इसे **हास्यरस** कहानी में कचहरी में ले जाता है जहाँ आधे घण्टे में उसकी शादी रजिस्ट्रार के सामने सम्पन्न हो जाती है। वह इधर रजिस्ट्रार के कमरे से बाहर निकलता है और उधर उसके दिमाग में महात्मा बुद्ध आकर बैठ जाते हैं। यह आयरनी की स्थिति है, पत्नी शिखा के चेहरे में उसे उसकी छोटी बहिन नयना का चेहरा दिखने लगता है। इस तरह इस कहानी में रोमांटिक बोध पर व्यंग्यात्मक छींटे हैं। इसमें व्यंग्य-कथनों की भरमार है—हम बच्चे पैदा नहीं करेंगे, जल्दी पैदा नहीं करेंगे, दुनिया में बहुत से महान् काम पड़े हैं, जैसे गाँव में एक स्कूल खोलना। इसी तरह व्यंग्य की स्थितियों को उजागर किया गया है—कचहरी में शादी करवाने को क्रान्तिकारी काम की पदवी देना, कुँवारे लोगों का दूसरों की हसीन बीबियाँ देख कर जलना। **हास्यरस** में विवाह के ऐन बाद मोहभंग की प्रक्रिया को व्यंग्य के स्तर पर उतारा गया है। **दाम्पत्य** कहानी में विवाह के बाद की स्थिति का व्यंग्यात्मक चित्रण है। इसमें पति ने एक ज़रूरी काम के लिए केवल अस्सी मील दूर बाहर जाना है कि पत्नी चाहती है कि वह वहाँ से उसे एक प्रेम-पत्र लिखे और जाने से पहले वह गुसलखाने से अधनंगी दौड़ती और हाँफती इस बात का अनुरोध करने आती है। इसमें स्थिति का व्यंग्य है। पति ज़रूरी काम छोड़ कर, मीलों पैदल चल कर (जेब में पैसे कम हैं) पत्नी के लिए रसगुल्ले लाता है जो उसे बेहद पसन्द हैं, लेकिन उस समय वह गहरी नींद सो रही होती है। इसमें विषमता के माध्यम से आयरनी की स्थिति उजागर होती है। पति के पास एक ही चारा रह जाता है कि वह सारे रसगुल्ले खुद निगल जाए। उसकी पत्नी इन्तज़ार इसलिए नहीं कर रही थी कि पति हमेशा बाहर से खाली हाथ लौटता था। इस तरह इस कहानी में दाम्पत्य जीवन की स्थिति का व्यंग्यात्मक चित्रण है—शादी से पहले, शादी के समय और शादी के बाद की स्थितियों को व्यंग्य की दृष्टि से आँका गया है और आँकने में तटस्थता से काम लिया गया है जो व्यंग्य के माध्यम से संभव हो सका है।

इसी तरह **रवीन्द्र कालिया** भी, जो समकालीन कहानीकार हैं, कहानी की **दौरान** वाली कोटि में आते हैं, व्यंग्य का भरसक उपयोग करते हैं जो जीवन की विषमताओं, असंगतियों और विसंगतियों को काटता चला जाता है और साथ ही गहरे में धँसता चला जाता है। यह कभी वैयक्तिक स्तर पर है—**नौ साल छोटी पत्नी** तो कभी सामाजिक स्तर पर—**काला रजिस्टर**। इन कहानियों में भी ज्ञानरंजन की कहानी की तरह स्थिति और परिवेश के प्रति व्यंग्यात्मक भंगिमा है, व्यंग्य में सघनता है और तीखापन है। **नौ साल छोटी पत्नी** में तृप्ता दो संसारों में विभाजित है। अपने बाहरी संसार में वह कुशल की है और भीतरी संसार में वह सोम की। वह कुशल से कहती है—सुब्बी बहुत खराब लड़की है . . . देखने में कितनी भोली लगती है, पर मुई को लड़कों के खत आते हैं। . . . नासपीटी उसके जवाब भी लिखती है। इस तरह के अनेक पत्र तृप्ता की भीतरी दुनिया के तहखाने में छिपे पड़े हैं, जिन्हें कुशल ने देखा है। इस भीतरी संसार में तृप्ता सोचती है कि कुशल की दृष्टि इतनी पैनी नहीं है जितनी वह समझ

बैठी है। इस तरह कहानी में आयरनी की स्थिति है जिसे लेखक ने कुशलता और तटस्थता से उजागर किया है। **काला रजिस्टर** में व्यंग्य-आयरनी का स्वरूप भिन्न है जो बड़ी व्यवस्था के एक छोटे पहलू पर गहरी चोट करता है। इसमें व्यवस्था का सम्बन्ध पत्रकारिता की दुनिया से है जिसका बॉस केबिन में बैठता है और कहानी में उसका नाम भी केबिन है जिसमें शाब्दिक व्यंग्य है। इस व्यवस्था में उप और छोटे संपादकों का जीवन घुटन और चापलूसी का शिकार है। इसकी झाँकी देने के लिए व्यंग्य-आयरनी का सहारा लिया गया है जो इसे नंगा करता जाता है। इस प्रक्रिया में व्यंग्य की प्रक्रिया जारी हो जाती है। व्यंग्य कभी शब्द का है तो कभी कथन का, कभी स्थिति का है तो कभी चरित्र का। इसमें पात्रों के नामों में भी व्यंग्य का बोध होता है—उप-संपादक के लिए केवल **उप** और अन्य सहायक सम्पादकों के लिए नाम मैंगा, मोटा, क्रान्ति और छोटा है। सबसे बड़ा नाम केबिन है जो अफ़सर है, जो इनके जीवन का मालिक है। छायाजी इस व्यवस्था का अभिन्न अंग हैं जो इसकी बोरियत को तोड़ने के काम आती हैं। मोटा काम के बहाने छायाजी से इश्क लड़ाता है और इसका सीधा सम्बन्ध केबिन से है। मोटे का प्रेम-विवाह हुआ था जिसका परिणाम चार बच्चों में निकला है जिनमें उसका फ्रिज भी शामिल है। उसका स्नेह फ्रिज से अधिक है। यह एक दृश्य की याद ताज़ा करता है। एक परिचित ने अपने नए फ्रिज को बैठक के कमरे में इसलिए सजा रखा है ताकि वह अपनी पुरानी पत्नी के साथ-साथ अपने नए फ्रिज का परिचय घर में आने वालों से करवा सके। इसके बाद फ्रिज भी पुरानी बीबी की तरह किचन की ओर चला गया है। पति अपनी पत्नी से फ्रिज की कसम खाता है जो खुदा की कसम से कम नहीं है। इस कहानी में करारी चोटें केबिन पर हैं जो व्यवस्था का प्रतीक हैं। एक उदाहरण—मोटे की सास का देहान्त हो चुका है और वह फोन पर केबिन से छुट्टी माँगता है, लेकिन केबिन केवल **तो-तो** में जवाब देता है। मोटे ने अपनी माँ की मौत पर एक भी छुट्टी नहीं ली थी। व्यवस्था के नियम इतने कड़े हैं। इस तरह रवीन्द्र कालिया ने व्यंग्य को आयरनी में बदल दिया है जो इसका परिष्कृत रूप है और यह समकालीन कहानीकार के बौद्धिक विकास की देन है। **नयी कहानी** में व्यंग्य का स्वरूप अपना है, लेकिन इसमें तटस्थता इतनी नहीं है जो बाद की कहानी में है। यह युग-बोध के बदलने का भी परिणाम हो सकता है या असंगतियों और विसंगतियों के गहराने की परिणति भी हो सकता है। **काशीनाथ सिंह** की कुछ कहानियों में भी व्यंग्य का पुट है जिसका अन्दाज़ नाटकीय है। **लोग बिस्तरों पर** कहानी में संवादों के माध्यम से आयरनी का बोध होता है जब लाशों से तरह-तरह के सवाल पूछे जाते हैं—तुम आदमी तो हो? जी हाँ। तुम झूठ बोलते हो। इसलिए तो आदमी हूँ। '**आदमी का आदमी** में व्यंग्य का स्वरूप राजनीतिक-सामाजिक है, **चाय घर में मृत्यु** कहानी में उन बुद्धिजीवियों पर व्यंग्य है जो टी हाउस में संत्रास और मृत्यु-बोध पर बहसें करते हैं और विदेशी लेखकों का हवाला देते हैं—ये लेखक शाम तक कामू सूँघते हैं, काफ्का फाँकते हैं, कविता खाँसते हैं, कहानियाँ खाकते हैं, मक्खियाँ मारते हैं, भाड़ झोंकते हैं, और चाय के पैसे देने वाले जजमान का इन्तज़ार करते हैं।' अन्तिम तान आयरनी के बोध पर टूटती है। इस कहानी का अन्त भी व्यंग्यात्मक है जब मुक्तिदूत हड़बड़ी में कहता है—आज पैसे मैं दूँगा। मुक्तिदूत का

यजमान बनना इन आधुनिक पुरोहितों के लिए सुखद साबित होता है। इसी तरह **जितेन्द्र भाटिया** की कहानी **डॉन विवकजोट की मौत** में, **सतीश जमाली** की कहानी **पुल** में, **बदीउज्ज्मा** की कहानी **चौथा ब्राह्मण** में, व्यंग्य के पुट की गवाही मिलती है जिसके माध्यम से समकालीन वास्तव की जटिलता का सामना किया गया है। **चौथा ब्राह्मण** में व्यंग्य-कथनों की भरमार भरमार है—जीनियस और पागल को मैं एक ही श्रेणी में रखता हूँ, क्योंकि दोनों ही अकेले अपने रास्ते पर चलते हैं। इसी तरह **चौबे ब्राह्मण** की कथा जिसे पंचतंत्र से लिया गया है आधुनिक व्यवस्था पर गहरी चोट करती है। सतीश जमाली की कहानी **पुल** में बड़े और छोटे शहर में विषमता को उजागर किया गया है और दोनों में आयरनी की स्थिति उभरती है। इनकी कहानी **प्रथम पुरुष** में मालकिन का व्यंग्य-चित्र उतारा गया है जो हर मुलाकात पर फूलों की बात करती है और इसके सिवा न कुछ कहती है और न ही करती है। इस तरह समकालीन कहानी में व्यंग्य का उपयोग विविध रूपों में किया गया है और विभिन्न उद्देश्यों को पूरा करने की दृष्टि से किया गया है। इससे यह आशय नहीं है कि महिला कहानीकारों की रचनाओं में व्यंग्य का नितान्त अभाव है। वह चाहे दीप्ति खण्डेलवाल हों या मृदुला गर्ग, निरूपमा सेवती हों या मणिका मोहिनी, मेहरुनिस्सा परवेज़ हों या मृणाल पाण्डे। इनकी कहानियों में व्यंग्य की धार तीखी नहीं है, मीठी-मीठी चुटकियाँ गुदगुदाने वाली हैं। वह चाहे **निरूपमा सेवती** की कहानी **संक्रमण** हो या **दीप्ति खण्डेलवाल** की **क्षितिज मृदुला गर्ग** की कहानी **कितनी कैदें** हो (इसमें आयरनी का बोध है) या **मृणाल पांडे** की **शरण्य की ओर** हो, **मणिक मोहिनी** की **एक ही बिस्तर पर** हो या **मेहरुनिस्सा परवेज़** की **तीसरा पेंच ही**। इनकी अधिकांश कहानियाँ पति-पत्नी के टूटते-तड़कते सम्बन्धों के दायरे में सीमित हैं। इन्हें तोड़ने में तटस्थता से काम लिया गया है और वस्तुस्थिति का सामना करने के लिए व्यंग्य का सहारा लिया गया है। इनमें ठण्डेपन का अहसास भावुकता से छुटकारा पाने में सहायक है जो बौद्धिक विकास का परिणाम है और व्यंग्य के स्वरूप को परिष्कृत करता है।

५. उपन्यास और कहानी की तरह हिन्दी-निबन्ध भी आधुनिक साहित्यिक विधा है जिसमें व्यंग्य का उपयोग भारतेन्दु-काल से होता आया है और इसका स्वरूप बदलने की गवाही देता आया है, जिसके अनेक कारण हो सकते हैं। एक कारण तो यह है कि निबन्ध की विधा कहानी और उपन्यास की अपेक्षा उपहास, व्यंग्य और आयरनी के उपयोग के लिए बेहतर माध्यम है। भारतेन्दु-काल में भी इसकी गवाही मिल जाती है। इस काल में व्यंग्यात्मक निबन्धों की झड़ी लग जाती है। इसका स्वरूप पत्रकारिता के स्तर पर अधिक है, साहित्यिक स्तर पर कम है। इस युग की कविता की तरह निबन्ध में उपहास और व्यंग्य के विषयों की विविधता है जो राजनीतिक, सामाजिक विषमताओं और असंगतियों को उजागर करते हैं। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र, बालमुकुन्द गुप्त, राधाचरण गोस्वामी, बदरीनारायण चौधरी अनेक नाम हैं जो उभर कर आते हैं और इनकी अनेक व्यंग्यात्मक रचनाएँ हैं जिनकी ओर संकेत ही दिया जा सकता है। भारतेन्दु के निबन्ध **पाँचवें पैगम्बर, लेवी प्राण लेवी, स्वर्ग में विचारसभा का अधिवेशन, कंकड़ स्तोत्र** इसके उदाहरण हैं जिनका उद्देश्य समाज की मैल को धोना है, विदेशी राज के ढोंग को नंगा करना है। इनमें हास

का पुट कम है, परिहास का अधिक है। भारतेन्दु ने निबन्ध की विधा में व्यंग्य के रचनात्मक उपयोग की जो शुरुआत की उसका पोषण और अनुकरण इस काल के हर साहित्यकार ने किया। पत्र और पत्रिकाओं के माध्यम से इसका विकास इतना नहीं हुआ जितना विस्तार। बालकृष्ण भट्ट के निबन्धों में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने जिस **चिड़चिड़ाहट** का संकेत दिया है उसके मूल में परिवेश के लिए असंतोष है। यह असंतोष व्यंग्य का रूप धारण करता है। इसे खरी-खरी सुनाना भी कहा गया है—उस काल में, जिसमें सुनाना भी कठिन था, और खरी-खरी सुनाने की बात तो इससे अधिक कठिन थी। भट्ट के निबन्धों में व्यंग्य का दंश जब तीखा हो जाता है तो इसे कम करने के लिए वह अपना उपहास भी करने लगते हैं। इनके निबन्धों में कभी **मेला-ठेला** में मेले का, कभी **वकील** में वकील का चित्रण हास्य-व्यंग्य के स्तर पर किया गया है। **दिल बहलाने के जुदे-जुदे तरीके** में व्यंग्य का स्वरूप **बैठे-ठाले** छाप का है। बालकृष्ण भट्ट के निबन्धों में कभी-कभी आयरनी की गवाही मिल जाती है। इनमें लगता है कि भट्ट तारीफ़ कर रहे हैं, लेकिन हो रही है निन्दा। प्रतापनारायण मिश्र के व्यक्तिगत निबन्धों में मुहावरों के माध्यम से व्यंग्य और विनोद का बोध होता है। **भौं, दाँत, पेट, नाक, मुच्छ** पर भी इनकी विनोदी लेखनी की गवाही मिलती है, **छल, भलमंसी, विश्वास** में व्यंग्य का पुट उजागर होता है। इनका अधिकांश व्यंग्य शब्दगत है। इनका हर लेख मुहावराकोष है। इसका एक उदाहरण **बात** लेख है—बात बनती है, बात बिगड़ती है, बात आ पड़ती है। बात जाती रहती है, बात जमती है, बात उखड़ती है, बात खुलती है, बात छिपती है, बात चलती है, बात अड़ती है। इस तरह बात के बारे में मुहावरों की झड़ी लग जाती है। इसमें व्यंग्य की बात नहीं है, विनोद की हो सकती है। इसी तरह इनके लेखों में कहावतों की भी भरमार है। इनके निबन्धों में व्यंग्य का नितान्त अभाव भी नहीं है। इस कोटि में **भलमंसी** निबन्ध आता है जिसमें परम्पराओं का पालन करने वालों पर गहरी चोट है जो अपनी कायरता या कातरता के कारण पुरानी रूढ़ियों का पालन करते रहते हैं। इस कोटि के निबन्ध **खुशामद** और **उपाधि** भी हैं जिनमें चापलूसों पर मीठी चोटें की गयी हैं और उपाधि हासिल करने वालों पर मीठी चुटकियाँ ली गयी हैं। **उपाधि पाना भला है सही, पर ऐसा भला है जैसा बैकुण्ठ जाना, पर गधे पर चढ़ के।** खुशामद में इसके साधनों और इसकी शक्ति का व्यंग्यात्मक चित्रण है। इस तरह व्यंग्य का धीरे-धीरे भारतेन्दु-काल में भी परिष्कार होता गया है जो इसके विकास की गवाही देता है। पहले चोट व्यंग्य के माध्यम से की जाती थी जो सीधी थी, लेकिन इस काल के आखिरी दशक में यह हास्य के माध्यम से की जाने लगी जो छिप कर है। इस अन्तर में व्यंग्य के विकास को आँकना असंगत न होगा। राधाचरण गोस्वामी का व्यंग्य पाखण्डी पौराणिक संस्कृति पर चोटें करता है, लेकिन इसमें कबीर के व्यंग्य का तीखापन और इसकी कड़वाहट नहीं है, यह हँसी में लिपटा हुआ है। वैतरणी पार करने से लेखक को रोक लिया जाता है। उसने गोदान नहीं किया है। उसकी दलील यह है कि बैल की पूँछ पकड़ कर वैतरणी पार क्यों नहीं किया जा सकता? कुत्ते ने क्या चोरी की है? वह रतन कुत्ते की पूँछ पकड़ कर पार हो जाता है। **यमपुर की यात्रा** नामक निबन्ध से पुरोहित-समाज बौखला उठा था। इस तरह भारतेन्दु-काल के निबन्ध साहित्य में न केवल विषयों की विविधता है, व्यंग्य के स्वरूप की भी

अनेकरूपता है। कभी इसमें हास का पुट है तो कभी परिहास का, कभी यह सीधे चोट करता है तो परोक्ष रूप में, कभी इसमें विनोद का पुट है तो कभी रोष का। इस तरह व्यंग्य का उद्देश्य युग की असंगतियों, विसंगतियों, रूढ़ियों, विकृतियों पर चोट करना है ताकि जीवन को गतिशील बनाया जा सके। यह पत्र-पत्रिकाओं के द्वारा हो सकता था इसलिए निबन्ध की विधा को अपनाया गया और इसमें व्यंग्य को माध्यम बनाया गया।

इस काल के बाद छायावादी युग में व्यंग्य का रंग फीका पड़ने की गवाही उसी तरह देने लगता है जिस तरह कविता, नाटक, कहानी और उपन्यास में कभी-कभार इसका उपयोग देखने को मिलता है। प्रेमचन्द का कथा-साहित्य इसका अपवाद ही कहा जा सकता है। यह काल भारतीय संस्कृति के पुनरुत्थान और नव-जागरण का माना जाता है जब लेखक का चेहरा गंभीर होने लगता है और गंभीरता व्यंग्य-विनोद के लिए अनुकूल नहीं बैठती। इसी तरह आवेग और आवेश भी इसके विकास के विपरीत बैठते हैं, लेकिन युग-बोध के बदलते ही निबन्ध-साहित्य में व्यंग्य और आयरनी का इस्तेमाल फिर से होने लगता है। इन निबन्धकारों की सूची हनुमान की पूंछ की तरह बढ़ने लगती है। इन सब का नाम लेना अगर असभंव नहीं तो कठिन अवश्य है। **हजारीप्रसाद द्विवेदी** और इनके मानस पुत्रों का एक दल है जिनके निबन्धों में व्यंग्य का इतना पुट नहीं है जितना विनोद का। **विद्यानिवास मिश्र, कुबेरनाथ राय** और कभी-कभी **अज्ञेय** भारतीय संस्कृति का सहारा लेकर अपने लेखों में इसका इस्तेमाल करते हैं जिन्हें ललित निबन्ध का नाम दिया गया है और ललित शब्द से आशय यह है कि लेख साहित्यिक है। एक और तरह के व्यंग्यकार हैं, जो कबीर-परम्परा के हैं और भारतेन्दु-काल के व्यंग्य के स्वरूप में निखार लाने वाले हैं। **हरिशंकर परसाई, उपेन्द्रनाथ अश्क, श्रीलाल शुक्ल, शरद जोशी, अमृतलाल, सामाजिक, राजनीतिक** असंगतियों, विकृतियों पर सीधी-तिरछी चोट करते हैं। इनके व्यंग्य का स्वरूप भी मँजा हुआ है। **धर्मवीर भारती, केशवचन्द्र वर्मा, रवीन्द्रनाथ त्यागी, संसारचन्द्र** के व्यंग्यात्मक लेखों में मीठी चुटकियों का उपयोग अधिक किया गया है। **बरसाने लाल चतुर्वेदी** न केवल व्यंग्य को परिभाषित करने वालों में हैं, व्यंग्य के सिद्धान्तों का अपने लेखों में व्यवहार भी करते हैं। इसी तरह साप्ताहिक, पाक्षिक और मासिक पत्रिकाओं में व्यंग्यात्मक लेख समसामयिक असंगतियों को उजागर करते हैं जो कभी **बैठे-ठाले** छाप का है तो कभी **ताल-बेताल** के छाप का। इनमें कभी चुटकलेबाज़ी है तो कभी हास-विनोद। अन्त में **इन्द्रनाथ मदान** के व्यंग्य-लेखों में आयरनी का पुट है जिसके माध्यम से लेखक अपना मज़ाक उड़ाना अधिक पसन्द करता है और अश्क की तरह हँसने की कला का नहीं, मुस्कराने की कला की गवाही देता है। इस तरह आधुनिक निबन्ध-साहित्य व्यंग्य-विनोद-आयरनी के बोध से अटा पड़ा है जिसकी ओर संकेत-मात्र ही दिया जा सकता है।

हज़ारीप्रसाद द्विवेदी के ललित निबन्धों में व्यंग्य-विनोद का पुट **अशोक के फूल** में संकलित उन लेखों में मिल जाता है जिनमें मन की भटकन अतीत का सहारा लेकर भारतीय संस्कृति के उन पन्नों को खोलती है जो आँखों से ओझल हो चुके हैं। इनका उद्देश्य बूढ़ी भारतीय संस्कृति को नए आभूषण और परिधान पहना कर आधुनिका बनाना है ताकि यह चिरयुवती लग सके। इसमें व्यंग्य-विनोद की शैली इतनी चुम्बकीय है कि यह अनायास पाठक

के मन को जकड़ लेती है। इस तरह ललित निबन्ध की विधा में व्यंग्य-विनोद का पुट आचार्य द्विवेदी की निजी देन है जिसे **कुबेरनाथ राय** ने सम्पन्न किया है। **गन्ध मादन, प्रिय नीलकण्ठी** और **निषाद बांसुरी** ललित निबन्धों के संकलन हैं जिनमें भारतीय संस्कृति को रोचक रूप में उजागर किया गया है, लेकिन लेखक की शैली कभी-कभी काफी बोझिल हो जाती है। **गन्ध मादन** देवभूमि हिमालय का एक रमणीय शैल-शिखर है। इससे आशय यह है कि शैल-शिखर सुगन्धि से मादन करता है। कुबेरनाथ राय अपने ललित निबन्धों में भारतीय संस्कृति और लोक-संस्कृति का निरूपण करते हैं। पुरानी और पौराणिक कथाओं को नये रूप में पेश किया गया है। वह चाहे **सागर-मन्थन** की कथा हो या **आकाश-मन्थन** की, **विखूजा-नदी** की कथा हो या **गंगा नदी** की, **पाहन-नौका** की कथा हो या **महीमाता** की। इसी तरह **कबूतर-पुराण** और **पान-ताम्बूल** में व्यंग्य-विनोद का पुट उभर कर सामने आता है।[1] उदाहरण के लिए पान बेचने वालों के वंश को चौरसिया कहते हैं। यह इसलिए कि चौरसिया में चार रस हैं—कत्था-चूना, सुपारी, पान और इन चार रसों के कलाकार को **चाररसिया** या **चौरसिया** कहते हैं। इस तरह के व्यंग्य-विनोद का परिष्कृत रूप कभी-कभी कुबेरनाथ राय के ललित निबन्धों में मिलता है। इसका अधिक विकसित रूप **विद्यानिवास मिश्र** के ललित निबन्धों में आँका जा सकता है जिनमें रोष और आक्रोश पर अंकुश लगा हुआ है। इन्हें अगर हजारीप्रसाद द्विवेदी-छाप के ललित निबन्ध कहा जाए तो असंगत न होगा। लेखक इन्हें व्यक्ति-व्यंजक निबन्ध का नाम देना बेहतर समझते हैं। अपने निबन्ध-साहित्य के बारे में इनका मत है—**छितवन की छांह** मेरे मादक दिनों की देन है, **कदम की फूली डार** मेरे विन्ध्य-प्रवास का फल है और **तुम चन्दन हम पानी** मेरे संस्कृति-अन्वेषण की उपलब्धि है। **आँगन का पंछी** और **बनजारा मन** दुविधा के क्षणों की सृष्टि है। इस संकलन के दो खण्ड हैं—आंगन का पंछी और बनजारा मन। इससे पहले लेखक भावुकता की धारा में बहता रहा है, आंचलिक संस्कृति का निरूपण करता रहा है, कुदरत या कायनात पर लिखता रहा है, द्विवेदी-छाप ललित निबन्ध की परम्परा का पालन करता रहा है। अब वह इससे छुटकारा पाना चाहता है, बातचीत की शैली को आज़माना चाहता है, पत्रों के माध्यम से अपने पाठक के सामने अधिक मुक्त रूप में आना चाहता है। उसका दावा है कि वह अब बौद्धिक होने की कोशिश कर रहा है। इसलिए इन पत्रों में व्यंग्य का पुट गहराने लगा है। 'मुझे आपको छितवन का अनदेखा पेड़ नहीं दिखलाना है, न संझा की अनसुनी रागिनी ही सुनानी है।'[2] इस संकलन में दो लेखों में जिन्हें पत्र-शैली में लिखा गया आयरनी का बोध विशेष रूप से उभरता है—**ड्योढ़े दर्जे का खातिमा** और **मेरी रूमाल खो गयी**। पहले लेख में इन्टर किलास के माध्यम से बीच के तबके पर व्यंग्य कसा गया है जो आयरनी का रूप धारण करता है। जब बातों-बातों में उसे यह सूचना मिलती है कि रेलवे में धीरे-धीरे दूसरे दरजे का लोप कर दिया जायेगा तो लेखक को बड़ी चोट पहुँचती है। यह इसलिए कि उसका ठौर-ठिकाना नहीं रहेगा इंटर में बैठने का एक सुख है : अपना निरालापन बचा रहता है। यहाँ कोई

---

१. कुबेरनाथ राय—निषाद बाँसुरी।

२. आँगन का पंछी और बनजारा मन, पृष्ठ ८४।

एक-दूसरे की दुखती रग को नहीं छूता। सब एक-दूसरे को मदद देने या लेने में संकोच करते हैं, एक-दूसरे के जीवन को छूने में संकोच करते हैं।[1] इस रौ में लेख बहने लगता है। कभी कवि पर चोट है तो कभी सामाजिक व्यवस्था पर। इस तरह बीच का तबका शासक-शासित के बीच अब अन्तिम साँस ले रहा है। यही सामाजिक न्याय की सहज परिणति है। इस स्थिति में आयरनी का बोध होता है। **मेरी रूमाल खो गयी** में यह बोध गहराने लगता है। पति भुलक्कड़ स्वभाव का है और पत्नी एहतियात के लिए इस पर नियन्त्रण के लिए रूमाल में गाँठ बाँध देती है। अब आयरनी की स्थिति यह है कि रूमाल निगोड़ी ही अगर रास्ते में गिर जाती है तो जिस चीज़ की याद गाँठ में बाँधी गयी थी उसकी बात ही क्या करनी है। लेखक को यह लगता है कि रूमाल वैसी नहीं है। खादी की सफ़ेद-सी रूमाल जिस पर कसीदा भी नहीं है। यह तो उसकी जीवन-यात्रा का वास्तविक संकल्प है जिससे वह बार-बार बिछुड़ जाता है। इस अन्दाज़ में आयरनी का स्तर उठने लगता है, यानी सूक्ष्म होने लगता है। विद्यानिवास मिश्र के एक और संकलन **कँटीले तारों के आरपार** में **ट्रांजिस्टरी युद्ध-दर्शन** नामक ललित निबन्ध में भ्रमरानन्द का रेखाचित्र व्यंग्यात्मक धरातल पर उतारा गया है। उसकी शराब की दूकान फेल हो गयी है और उसने ट्रांजिस्टर-रेडियो का धंधा शुरू कर दिया है जहाँ ट्रांजिस्टर बजाते-बजाते वह खुद ट्रांजिस्टर हो गया है। आज के यान्त्रिक युग पर इस यन्त्र के माध्यम से व्यंग्य कसा गया है। यह लेख सरस्वती के संपादक को एक पत्र के रूप में लिखा गया था। इसमें बुद्धिजीवियों पर भी मीठी चुटकियाँ ली गयी हैं। इस तरह विद्यानिवास मिश्र का व्यंग्य-लेखन भारतीय संस्कृति या आंचलिक संस्कृति का निरूपण करने के बाद सामाजिक असंगतियों को आधार बनाता है और व्यंग्य-आयरनी के माध्यम से इनकार करता है।

अमृतराय का व्यंग्य-लेखन इतना सोद्देश्य नहीं है जितना मन का बहलाव है, मूडों का खिलवाड़ है।[2] वह अपनी भूमिका में इस बात का बड़ा अफ़सोस करते हैं कि इंडिया यानी भारत में हास्य-व्यंग्य बहुत कम लिखा गया है, लेकिन विश्व-साहित्य में इसका नितान्त अभाव नहीं है। वह व्यंग्य को एक साहित्य की विधा मानते हैं जिससे सहमत होना कठिन है। वह हास्य और व्यंग्य के स्वरूप को परिभाषित भी करते हैं—हास्य और व्यंग्य के रग-रेशे को एक-दूसरे से अलग करके देख पाना कठिन भी है, क्योंकि ऐसा व्यंग्य मुश्किल से मिलेगा जिसमें हास्य का भी कुछ पुट न हो और ऐसा हास्य भी कम देखने को मिलता है जिसमें कितना ही बारीक क्यों न हो, व्यंग्य का भी कुछ काँटा या नोक न हो। इस बहस में पड़ने से यह सवाल हल न होगा। इस समय तो अमृतराय के हास्य-व्यंग्य की पहचान-परख करनी है। इनके कुछ लेखों या निबन्धों में व्यंग्य-विनोद और कभी-कभी आयरनी की गवाही मिल जाती है—जैसे **नया साल मुबारिक, अश्लील साहित्य, अखबार, संगीत सम्मेलन, सुबह की हवा** और **बापू के तीन बंदर**। नये साल का जन्म रात के बारह बजे होता है। इसके बाद लेख में मन की आज़ाद भटकन है जिसका नये साल से सम्बन्ध टूट जाता है। बात से बात इस तरह निकलने लगती है जैसे केले के पात से

---

१. **आँगन का पंछी और बनजारा मन : पृष्ठ १०३, १०४।**

२. **अमृत राय : मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचनायें।**

पात। इसलिए कहना पड़ता है कि इसमें विनोद का पुट तो है, लेकिन व्यंग्य का शायद नहीं। बात कभी घरेलू जानवरों की चल पड़ती है तो कभी कीड़े-मकोड़े की। **अश्लील-साहित्य** में व्यंग्य के पुट की गवाही मिलती है जब इसे इन शब्दों में परिभाषित किया गया है—जो सब को अच्छा लगे और कोई न माने वह अश्लील है।[१] आदमी का काम बिस्तर के बिना मजे से चल सकता है, बिस्तर के साथी के बिना नहीं चल सकता। इस तरह की शैली में अश्लील-साहित्य के स्वरूप को उजागर किया गया है। **संगीत सम्मेलन** में स्थिति व्यंग्यात्मक है। इसमें एक बड़े जोश से गा रहे हैं। गवैये के सम पर आते ही सुनने वाले भी सर के एक झटके के साथ सम पर आ जाते हैं। महफ़िल पर एक नशा-सा छा जाता है। सोने और जागने की हदें आपस में घुलती जा रही हैं।[२] इस लेख में शास्त्रीय संगीत पर अनेक व्यंग्य कसे गए हैं जो इसका मज़ाक उड़ाते हैं, विशेष कर उन सुनने वालों का जो इसे समझने का ढोंग रचते हैं। इस तरह के निबन्धों में व्यंग्य का स्वरूप बदलने की गवाही देता है, सोद्देश्य हो जाता है। अमृतराय के व्यंग्य-साहित्य में छोटी-छोटी बातों को आधार बनाया गया है और इन पर मीठी चुटकियाँ ली गयी हैं—वह चाहे कपड़ा हो, डायरी हो, नवनीत हो, उन्नीसवाँ पुराण यानी मिलावट हो या वोटर। वोटर और लोकतन्त्र में वही सम्बन्ध हैं जो मोटर और उसके सवार में होता है, वोटर ही लोकतन्त्र की मोटर है। इनमें व्यंग्य कभी कथनों का है और कभी स्थितियों का। **वक्त की पाबन्दी** ने ज़िन्दगी अजीरन कर रखी है, इसे मशीन बना डाला है। किसी को एक मिनट रुकने-सुस्ताने की मोहलत नहीं है। बस छूट जाएगी, रेल छूट जायेगी, पिक्चर छूट जायेगी, नौकरी छूट जायेगी। हर समय कुछ-न-कुछ छूटता ही रहता है, बस एक जान है जो इतने पर भी नहीं छूटती—मगर कब तक? इन कथनों में व्यंग्य गहरे में उतरने की गवाही देने लगता है। **बापू के तीन बंदर** में व्यंग्य की धार तीखी होने लगती है और इसका उद्देश्य सांस्कृतिक, सामाजिक और राजनीतिक है। एक बंदर आँख मूंदे बैठा है, एक कान बन्द किए बैठा है, एक मुँह पर हाथ रखे बैठा है। किसी की निन्दा न करो तो फिर क्या करो? पर निन्दा जैसा दूसरा रस नहीं है। मुँह बाँध कर रखो जबकि आसपास बड़े नेता गाँजे-चरस की स्मगलिंग कर रहा है, यूनिवर्सिटी का प्रोफेसर किसी छात्रा के सहयोग से वात्स्यायन के काम-सूत्र की टीका लिख रहे हैं, नगर में सिद्ध पुरुष औरतों को पुत्र-दान कर रहा है।[३] इसी तरह जहाँ-तहाँ लोग भूख से मर रहे हैं मगर खाद्य मन्त्री ने बापू के बंदर की देखा-देखी अपनी आँखें मूंद ली हैं।[४] इस निबन्ध के अन्त में व्यंग्य इसलिए शिथिल पड़ जाता है कि इसमें उपदेश का पुट उभरने लगता है। कुल मिला कर अमृतराय के व्यंग्य-विनोद का स्वरूप शिष्ट और परिष्कृत है, अभिजात और कुलीन है।

---

१. मेरी श्रेष्ठ व्यंग्य रचनायें, पृष्ठ ३१।
२. वही, पृष्ठ ५४।
३. वही, पृष्ठ ९८।
४. वही, पृष्ठ १०१।

रवीन्द्रनाथ त्यागी, जो एक नामी और पेशावर व्यंग्यकार हैं, के सात हास्य-व्यंग्य के संग्रह छप चुके हैं—खुली धूप में नांव पर, भित्ति-चित्र, मल्लिनाथ की परम्परा, कृष्णवाहन की कथा, देवदार के पेड़, शोक-समय, अतिकक्ष और अब **फुटकर** नामक संकलन जिसमें इन्होंने अपनी श्रेष्ठ व्यंग्य-रचनाओं का चयन किया है यानी दो सौ में से केवल बीस जिनमें **यात्रा और शिकार, सम्भरण** भी शामिल हैं। इसमें साठ कविताएँ भी शामिल हैं, लेकिन इस समय सवाल लेखों या निबन्धों में व्यंग्य के स्वरूप को उजागर करना है। इनके व्यंग्य के बारे में यह कहा गया है कि इसमें व्यक्तिगत उखाड़-पछाड़ नहीं है, शुद्ध व्यंग्य की परम्परा है और शुद्ध व्यंग्य शुद्ध छायावाद या शुद्ध घी से आशय क्या है यह साफ़ नहीं किया गया है। **यातायत से नायिका तक**[1] में बात तो यातायात की की गयी है, लेकिन पहुँचा गया पौराणिक वाहनों तक है—यमराज भैंसे पर चढ़ता था। इनका भैंसा कमज़ोर था और इसी कारण सावित्री ने इसका पीछा कर यम को पकड़ लिया था। अगर वैसी स्थिति आज होती तो बजाय सत्यवान को छोड़ने के यमराज सावित्री को भी अपने साथ और ले जाते। इस तरह लेखक पौराणिक वाहनों का उपयोग व्यंग्य पैदा करने के लिए करते हैं। शिव का वाहन साँड़ था और गणेश का चूहा। अब तो रेल, मोटर और जहाज़ का ज़माना है। अतीत और आगत में वाहनों के माध्यम से आज की स्थिति को व्यंग्यात्मक धरातल पर उजागर किया गया है। **हमारा घर** में व्यंग्य की धार अधिक पैनी है—महाकवि इक़बाल ने कहा था कि हमारा हिन्दुस्तान सारे जहाँ से अच्छा है। इस देश में चमन बहुत हैं और हम बुलबुले हैं। लेखक ने बुलबुल देखी तो नहीं है, लेकिन अनुमान लगा सकते हैं कि काफ़ी बड़ी चिड़िया होगी। लाला हकूमतराय अपनी नयी बीवी को **बुलबुल** कह कर पुकारते हैं जो वज़नदार है। अपने घर का हुलिया व्यंग्य के अन्दाज़ में दिया गया है। माता, पिता, पत्नी, एक-एक का रेखाचित्र बेबाक होकर उतारा गया है और अन्त में परिणाम निकाला गया है कि इस घर में रह कर चिड़ियाघर जाने की तबीयत नहीं होती। अपना मज़ाक उड़ाकर दूसरों का मनोरंजन करना मीरासी की तरह बहुत कम जानते हैं। अगर रवीन्द्रनाथ त्यागी के व्यंग्य को मीरासी छाप का व्यंग्य कहा जाये तो असंगत न होगा। **एक जरूरी बयान**[2] में व्यंग्य का स्वरूप व्यक्तिगत न होकर सामाजिक है, चूहों की समस्या को आधार बनाया गया है और इसका समाधान व्यंग्य के माध्यम से दिया गया है—लोग अपने आयकर अधिकारी को दो चूहे मारकर आय की रिटर्न के साथ भेजेंगे तो इन्हें कर में विशेष छूट मिलेगी। चूहामार आन्दोलन में लोग होनहार साबित होंगे तो इन्हें **चूहाबहादुर** का खिताब दिया जा सकता है। अगर इसके बजाय लेखक **चूहा श्री** उपाधि का प्रस्ताव करते तो अधिक समसामयिक होता, लेकिन आज यह भी समसामयिक नहीं रहा। **संगीत : मेरा दुश्मन**[3] में शास्त्रीय संगीत का मज़ाक उड़ाया गया है। ऐसे गानों को तभी तो पक्का गाना कहा जाता था। इनके गाने के लिए फेफड़े और सुनने के लिए कलेजा काफ़ी मज़बूत रखना पड़ता था। रवीन्द्र नाथ त्यागी के व्यंग्य का स्वरूप कुल मिलाकर विनोदात्मक अधिक है, व्यंग्यात्मक कम है और इनके निबन्धों में आयरनी से परहेज़ किया गया है।

---

१. मल्लिनाथ की परम्परा, पृष्ठ ४७। २-३. फुटकर।

अन्त में **इन्द्रनाथ मदान** हैं जिन्होंने अपने व्यंग्य-लेखन में आयरनी से परहेज़ नहीं किया है। अब तक इनके तीन निबन्ध-संकलन छप चुके हैं—**कुछ उथले : कुछ गहरे** (१९६८), **रानी और कानी** (१९७४) और **बहानेबाजी** (१९७८)। इन लेखकों में किसी का मज़ाक उड़ाया गया है तो अपना। इसलिए इनमें न तो हास्य का पुट है और न ही व्यंग्य का जिनमें औरों को बनाया जाता है। लेखक का मत है कि दूसरों पर हँसना या उनको बनाना तो सब को भाता है और थोड़ा आता भी है. लेकिन मज़ा तो तब है जब अपने को बनाया जाये। यह और बात है कि सुनने वाला या पढ़ने वाला बाद में महसूस करे कि चोट उस पर भी की गयी है। यह आयरनी के माध्यम से बेहतर हो सकता है जो व्यंग्य का परिष्कृत रूप है। मदान के लेखों में विषयों की विविधता है जो आसपास के जीवन से या अपने जीवन से सम्बन्ध रखते हैं। इसलिए इनका धरातल कभी वैयक्तिक है, कभी सामाजिक तो कभी साहित्यिक। उदाहरण के लिए **अपना मकान, एकाकी जीवन, चोट पीने पर, बीमार पड़ने पर, डायरी की बात** का स्तर वैयक्तिक है।[1] **मेहमान बनने पर, पर-निन्दा, तनाव और तनाव** का स्तर सामाजिक है और **झूठ बोलने की कला, बोध और शोध, हास्य और व्यंग्य** और **अभिनन्दन** पर का स्तर साहित्यिक है। चुनाव और अनुवाद एक अपवाद है जिसका धरातल राजनीतिक है।[2] इसका आशय यह नहीं है कि एक का दूसरे में नितान्त अभाव है। लेखक ने अपने आसपास को तटस्थ दृष्टि से आँका है और यथासंभव संयम से उजागर किया है। यह दृष्टि जग का मुजरा देखने की है, लेकिन इसमें न तो आवेश है और न ही आवेग, आक्रोश का सवाल ही नहीं उठता। **बीमार पड़ने पर** से एक उदाहरण—मैं सचमुच मरने से इतना नहीं डरता हूँ जितना बीमार पड़ने से घबराता हूँ। इसकी एक वजह यह है कि मौत एक बार आती है और बीमारी बार-बार। और बार-बार मुझे बहुतेरों के उपदेश सहने पड़ते हैं। इस सहन में आयरनी का बोध है। **अभिनन्दन पर** में व्यंग्य का पुट इस तरह है—मैं सच कहता हूँ कि मैं लेखक नहीं हूँ और यह विनय-भाव से नहीं अहंभाव से कह रहा हूँ। लेखक असाधारण व्यक्ति होता है। इसके अतिरिक्त लेखक की तरह मैंने घाट-घाट का पानी भी नहीं पिया है। केवल नल का पानी पीने वाला लेखक नहीं बन सकता है। इस अन्दाज़ में—अगर आज लेखक बनाया गया हूँ तो एक बैरंग लेखक ही कहा जा सकता हूँ जिस पर पंजाब सरकार के भाषा विभाग ने सरकारी टिकट चिपका दी है। मुझे आशा है कि सरकारी टिकट के उतरने में अधिक समय नहीं लगेगा। **इस पर गोंद कम हुआ करता है।** इस कथन में व्यंग्य की धार पैनी होने लगती है। इस तरह मदान के व्यंग्य-लेखन में कभी शब्द का व्यंग्य है तो कभी कथन का, कभी स्थिति की आयरनी है तो कभी परिवेश की, लेकिन अधिकांश लेखों में आसपास की ज़िन्दगी पर गहरी आत्मीयता के साथ नज़र डाली गयी है जो लेखक की अपनी है। अधिकांश इसलिए कि कहीं-कहीं व्यंग्य उथले में रह जाता है, गहरे में उत्तर नहीं पाता, उथले से ही गहरे में उतरा जा सकता है। ●

---

१. **कुछ उथले कुछ गहरे।**

२. **बहानेबाजी।**

हिन्दी साहित्य में हास्य-व्यंग्य, विनोद और आयरनी की परम्परा पर सरसरी नज़र डालने पर इतना तो साफ़ हो जाता है कि कविता, नाटक, उपन्यास, कहानी और निबन्ध की साहित्यिक विधाओं में इनका स्वरूप-विकास कैसे और किस तरह होता रहा है। यह भी साबित हो जाता है कि गद्य-साहित्य इनके उपयोग के लिए अधिक अनुकूल माध्यम है जिसके अनेक कारण हैं। आज कविता की भाषा भी गद्य के निकट आने की गवाही देने लगी है। इसलिए शायद इसमें व्यंग्य और आयरनी का पुट गहराने लगा है। व्यंग्य और आयरनी, हास और उपहास में अन्तर को उजागर करने की कोशिश भी की गयी है। यह सही है कि व्यंग्यकार उपदेशक नहीं होता, उसका काम अधिक कठिन और नाज़ुक होता है। वह जब उपदेशक की भूमिका अदा करने लगता है तो उसके व्यंग्य का स्वरूप भोंडा पड़ने लगता है जिसे भारतेन्दु-काल के व्यंग्य-बोध में आँका गया है। इस काल के साहित्य में समसामयिकता ने व्यंग्य की व्यापकता का नाश भी किया है। किसी युग में जब असंगतियाँ और विसंगतियाँ गहराने लगती हैं तो व्यंग्य की रचना न करना कठिन हो जाता है। छायावादी युग में समन्वय या सामंजस्य की खोज व्यंग्य के अभाव का कारण है। इस युग में आयरनी का उपयोग तो कभी-कभी किया गया है और आयरनी मानव की स्थिति पर इतना बल नहीं देती जितना उसकी नियति पर। इन दोनों को अलगाया जा सकता है या नहीं—यह दूसरा सवाल है। आयरनीकारों ने इसे अलगाया है और मानव की विसंगत नियति को उजागर किया है। इससे पहले खुदा का मज़ाक उड़ाना ग़लत माना जाता रहा है। अकबर तक ने अगर मज़ाक उड़ाया है तो शेख का—खुदा खाने को देता है, शेख जी पीने नहीं देते। इस तरह मजहब पर अगर व्यंग्य कसा गया है, तो पण्डों, पुरोहितों, मौलवियों, पादरियों और पाखण्डियों को लेकर, लेकिन आज खुदा को भी नहीं बख़्शा गया है। व्यंग्य केवल गिरगिट नहीं है जो परिवेश के अनुकूल अपना रंग बदलता रहता है। इसका रूपांतरण भी होता रहता है, इसके ढंग भी बदलते रहते हैं। ढंग कभी उपहास का है तो कभी मीठी चुटकी का, कभी संवाद का है तो कभी चरित्र का। पैरोडी मौलिक की अनुकृति होती है। व्यंग्य का हमेशा एक शिकार होता है, यह हमेशा आलोचना करता है। व्यंग्यकार को जनता का हितकारी समझा जाता है।

आयरनीकार सुधारक की भूमिका अदा नहीं करता और न ही वह इसका दावा करता है। अगर आयरनी पाश्चात्य संसार में सीमित रही है तो इसका मतलब यह निकलता है, कि इसका महत्त्व व्यापक नहीं है। कुछ महान् लेखकों की कृतियों का अभाव पाया गया है। आयरनी को तुरन्त किसी परिभाषा में बाँधना तो कठिन है, लेकिन कुछ उदाहरणों से इसके स्वरूप का बोध संभव है। एक आयरनीगत स्थिति इस तरह की हो सकती है—एक पाकेटमार की अपनी जेब पीछे से कट जाती है जब अपने आगे वह किसी और की जेब काट रहा होता है। आयरनी के माध्यम से कहा कुछ जाता है और इसका मतलब उसके विपरीत होता है। इसे लक्षण-व्यंजना का नाम देना असंगत होगा। आयरनी विकासशील होने की भी गवाही देती है। संसार के बारे में आयरनीगत दृष्टिकोण विकासशील है। आयरनी शब्द के चारों ओर धुंध को इतना बढ़ाया गया है कि इसका स्वरूप भी धुंधला हो गया है। आयरनी कभी स्थिति में होती है और कभी आयरनीकार की दृष्टि में। कभी इसका ढंग शाब्दिक होता है तो कभी

स्थितिगत, कभी यह नाट्यात्मक होती है तो कभी रोमांटिक। मानव की दशा आयरनीगत है, जो है और दिखता है में भारी अन्तर है। आयरनी में तटस्थता, निस्संगता, वस्तुनिष्ठता से काम लिया जाता है, यह कबीर की भाषा में जग का मुजरा देखने वाली बात है। इसलिए शायद यह कहा गया है कि खुदा खालिस आयरनीकार है। आयरनी में लालित्यगत गुण भी होता है, इसे रूप देना होता है, जिसके बिना यह भोंड़ी पड़ सकती है। यह कटाक्ष की तरह सीधी नहीं होती है, आधी छिपी होती है जिसे खोजना पड़ता है। कैसे इसे पहचाना जाये? वेन० सी० बूथ ने इस समस्या का निरूपण अपनी पुस्तक **रिटोरिक आफ़ फिक्शन** में किया है। यदि होने और दिखने में विषमता आयरनी का बुनियादी गुण है तो विषमता का बोध आयरनी को पहचानने की आवश्यक दशा है। शाब्दिक आयरनी में यह विषमता पाठ और संदर्भ की विषमता है, या विषमता पाठ के भीतर होती है। स्थितिगत आयरनी में विषमता होने और दिखने में होती है। इसी तरह **अव्यक्तिगत** आयरनीकार अपने को मखौटे में छिपाता है। वह अपने को बनाता है। वह अपनी जगह कभी-कभी एक भोले-भाले पात्र का उपयोग करता है। कृष्णबलदेव वैद ने अपने उपन्यास **विमल : जाएँ तो जाएँ कहाँ** में इस ढंग का उपयोग किया है, विमल का मज़ाक उड़ाया है। आयरनी व्यंग्य के लिए एक अस्त्र है। आयरनी का व्यंग्यात्मक होना आवश्यक नहीं है, यह पराभौतिक भी हो सकती है। निर्मल वर्मा की कहानी **परिन्दे** इसका उदाहरण है जिसमें मानव की नियति को विसंगति के धरातल पर उजागर किया गया है। विदेशी साहित्य में काफ्का का उपन्यास-साहित्य इसकी गवाही देता है। समकालीन हिन्दी साहित्य में गाहे-बगाहे इसकी साक्षी मिल जाती है। इस तरह व्यंग्य और आयरनी में सूक्ष्म अन्तर को आँका जा सकता है।

•